❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥	सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर । किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ॥

वर्ष ७ | गौराब्द ४७५, मास—माधव २३, वार-सङ्कर्षण
सोमवार, २९ माघ, सम्वत् २०१८, १२ फरवरी १९६२ | संख्या ९

इन्द्रकृत-श्रीकृष्णस्तुति

विशुद्ध-सत्त्वं तव धाम शान्तं तमोमयं ध्वस्त-रजस्तमस्कम् ।
मायामयोऽयं गुण-सम्प्रवाहो न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥१॥
कुतो नु तद्धेतव ईश तत्कृता लोभादयो येऽबुध-लिङ्ग-भावाः ।
तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥२॥
पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो दुरत्ययः काल उपात्त-दण्डः ।
हिताय स्वेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वन् जगदीश-मानिनाम् ॥३॥
ये मद्विधाज्ञा जगदीश-मानिन-स्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।
हित्वार्य-मार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥४॥
स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृतागसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो मैवं पुनर्भून्मतिरीश मेऽसती ॥५॥
तवावतारोऽयमधोक्षजेह भुवो भराणामुरुभार-जन्मनाम् ।
चमुपतीनामभराय देव भराय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥६॥

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥७॥

स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्ध-ज्ञान-मूर्त्तये ।
सर्वस्मै सर्व-बीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥८॥

मयेदं भगवन् गोष्ठ-नाशायासार-वायुभिः ।
चेष्टितं विहते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥९॥

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्त-स्तम्भो वृथोद्यमः ।
ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥१०॥

(श्रीमद्भागवत १०म् स्कन्ध, २७ अध्याय से)

अनुवादः—

हे देव ! आपका स्वरूप अपरिवर्त्तनशील, प्रचुर ज्ञानमय, रजोगुण तथा तमोगुणसे रहित विशुद्ध सत्त्वमय है । अज्ञानानुबन्धजनित, मायामय यह गुण-प्रवाह (अर्थात् मायामिश्रित शरीर या संसार) आपको नहीं है ॥१॥

हे ईश ! जब अज्ञान और उसके कारण प्रतीत होनेवाले देहादिसे आपका सम्बन्ध है ही नहीं, फिर उन देह आदिकी उत्पत्तिके मूल कारण स्वरूप अज्ञानी के चिह्न—लोभ आदि दोष तो आपमें हो ही कैसे सकते हैं ? तथापि धर्मकी रक्षा एवं दुष्टोंका दमन करनेके लिये आप दण्ड धारण करते हैं ॥२॥

आप जगत्के पिता, गुरु और स्वामी हैं । आप जगत्का नियन्त्रण करनेके लिये दण्ड धारण किये हुए दुस्तर काल हैं । आप भक्तोंकी लालसा पूर्ण करने के लिये स्वच्छन्दतासे लीलावतारोंको प्रकट करते हैं तथा जो लोग हमारी तरह अपनेको ईश्वर मान बैठते हैं, उनका मान मर्दन करते हैं ॥३॥

प्रभो ! मेरे जैसे जो अज्ञानी व्यक्ति अपनेको जगतका ईश्वर माननेवाले हैं, वे जब देखते हैं कि बड़े-बड़े भयके अवसरों पर भी आप निर्भय रहते हैं, तब वे अपना घमण्ड छोड़ देते हैं और गर्व-रहित होकर संत-पुरुषों द्वारा सेवित भक्तिमार्गका आश्रय लेकर आपका भजन करते हैं । अतएव आपका यह गोवर्द्धन धारणलीला दुष्टोंके लिये शिक्षा-स्वरूप है ॥४॥

प्रभो ! मैंने ऐश्वर्यके मदसे चूर होकर आपका अपराध किया है; क्योंकि मैं आपके प्रभावके सम्बन्ध में बिल्कुल अपरिचित था । आप मुझ मूर्ख अपराधी का अपराध क्षमा करें और ऐसी कृपा करें कि मुझे फिर कभी ऐसे दुष्ट अज्ञानका शिकार न होना पड़े ॥५॥

इन्द्रियातीत (अधोक्षज) देव ! जो असुर सेनापति केवल अपना पेट पालनेमें ही लग रहे हैं और पृथ्वीके लिये बड़े भारी भारके कारण बन रहे हैं, उनके विनाशके लिये तथा जो आपके चरणोंके सेवक भक्तजन हैं, उनके कल्याणके लिये ही इस मर्त्य-धाममें आपका कृष्णरूपमें अवतार हुआ । अतएव इस सेवकका अपराध क्षमा करें ॥६॥

हे कृष्ण ! हे भगवन ! आपको नमस्कार है । आप सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, जगन्निवास, वासुदेव और सात्त्वतोंके अधिपति हैं; आपको नमस्कार है ॥७॥

आपने अपने भक्तोंकी इच्छासे अपनी श्रीमूर्त्ति को इस जगत्में प्रकट किया है, फिर भी आपकी-श्रीमूर्त्ति विशुद्ध ज्ञानमय है । आप अपनी अचिन्त्य

शक्तिके प्रभावसे जगत्‌के निमित्त और उपादान कारण है; इसलिये आप सर्वरूप हैं, सबके मूल कारण हैं और सब भूतोंके आत्मस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है ॥८॥

भगवन्! जब आपने मेरा यज्ञ बन्द करवा दिया, तब मैं अत्यन्त क्रोधित और गर्वमें चूर होकर मूसलाधार वर्षा और प्रचण्ड आँधीके द्वारा सारे व्रजमण्डलको नष्ट करना चाहा ॥९॥

परन्तु प्रभो! आपने मुझ पर बहुत ही अनुग्रह किया। मेरी चेष्टाको व्यर्थ करके मेरे घमण्डकी जड़ भी आपने उखाड़ दी। आप मेरे स्वामी हैं, गुरु हैं, और मेरे आत्मा हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ ॥१०॥

कुछ सोचने-समझनेकी बातें

(१) जो लोग भगवत् सेवासे विमुख होते हैं, वे सदा-सर्वदा भगवान्‌की माया द्वारा दिये हुए सुख-दुःखोंका भोग करते हैं। सुख-दुःख भोगकी भूमिका स्थूल देह और मन हैं। विचारकोंका ऐसा कहना है कि स्थूल और सूक्ष्म देह जिसके हैं, उसे कुछ भी भोग नहीं करना होता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर ही सारे सुख-दुःखोंका भोग करते हैं। जीवात्मा सुख-दुःख भोगका मालिक नहीं है। जीवात्माकी सुप्तावस्थामें स्थूल और सूक्ष्म—ये दोनों आवरण ही सुख-दुःख भोग करते हैं।

(२) जो लोग स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंको और उन दोनों शरीरोंके मालिक देहीको जान लेते हैं, वे स्वयं मुक्त होकर हरि-सेवा करते हैं। आत्माकी वृत्तिका उन्मेष होने पर वह हरि-सेवामें प्रवृत्त होता है अर्थात् उसकी हरि-सेवा आरम्भ होती है। उस समय मन और स्थूल देह अपने प्रभु आत्माकी इच्छानुसार कार्य करते हैं। परन्तु जिस समय प्रभु आत्मा सो जाते हैं और मन एवं स्थूल देह पर उनका शासन नहीं होता, उस समय देह और मन अपने प्रभुको वंचित करके प्रभुके जागतिक सारे उपकरणोंका स्वयं भोक्ता बन बैठते हैं।

(३) जब मन सांसारिक विषयोंको ग्रहण करता है, उसी समय मनमें प्रभुको वंचना करनेकी दुष्प्रवृत्ति पैदा होती है। ऐसा देख कर नीतिविशारद उपदेशक-सम्प्रदाय व्यक्ति-विशेषकी चिन्ता-धाराके अधिकारी मनको ऐसा उपदेश करते हैं कि तुम्हें अपनेको भोक्ता न मान कर अपने प्रभु जीवात्माके कल्याणके लिये कार्य करना चाहिए। परन्तु रजः और तमः गुणोंसे प्रभावित हुआ मन उनके उपदेशों पर तनिक भी ध्यान नहीं देता है। वह अपने स्वामीके कल्याणके लिये तनिक भी परवाह नहीं करता है। इस प्रकार विशुद्ध या निर्गुण जीवात्मा अपने मन रूपी स्वार्थी सेवक द्वारा वंचित होकर भूतग्रस्त हो पड़ता है। उस समय उपदेशक जीवात्मासे फिर कहते हैं—'देखो, तुम्हारे सिर पर भूत सवार हो रहा है। तुम्हारे सेवकों—मन और स्थूल देहने तुम्हारी स्वतन्त्रताके ऊपर आक्रमण किया है। अतएव सबसे पहले तुमको इन आक्रामकोंका दमन करना चाहिए। ऐसा नहीं करनेसे तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता।' परन्तु मनोधर्मी जीव उपरोक्त चेतनमय उपदेशोंकी अवज्ञा करते हैं। फल यह होता है कि वे आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक—इन त्रिविध तापोंका भोग करते हैं।

(४) जब त्रिविध-ताप देह और मनको धर दबाते हैं, तब उनकी यथार्थ बोधशक्तिको विकृत कर उन्हें स्वर्ग-नरकमें गमना-गमन कराते हैं। यदि देह और मन उपर्युक्त उपदेशकोंके उपदेशोंका श्रवण करते हैं,

तो जीवात्माकी निद्रा भङ्ग हो जाती है। जब जीव जग जाता है, तब देह और मन उसकी इच्छाके विरुद्ध कुछ भी नहीं कर पाते। दूसरी तरफ, जब मन आत्म-विमुख, होकर देहके अनुकूल कार्य करनेकी अभिलाषा करता है, उसी समय वह अपने प्रभु जीवात्माको चकमा देकर सुला देनेकी चेष्टा करता है तथा साथ ही उपदेशकोंकी वाणियोंका विकृत अर्थ लगा कर अपने विचारोंकी पुष्टि करता है। ऐसी दशामें मनकी गति भगवत्सेवाकी ओर न होकर बहिर्जगतके विषय-भोगोंकी ओर होती है। वह विषयी उपदेशकोंको ही सच्चा और यथार्थ उपदेशक समझता है।

(५) भगवद्भजनका उपदेश करनेवाला जीवके स्वरूपका उद्बोधक है। जब ऐसा उपदेशक किसी व्यक्तिके मनके निकट मुक्त-वाणीका प्रचार करता है उस समय मनकी नौकरी समाप्त हो जायगी, देह और विश्वकी जमींदारी चौपट हो जायगी—ऐसा सोच कर वह सहसा उन उपदेशोंको ग्रहण करनेके लिए प्रस्तुत नहीं होता। बल्कि वह उन उपदेशकोंसे धर्म-अर्थ-काम-भोगोंके ही सम्बन्धमें परामर्श चाहता है। फिर कभी विषय-भोगोंसे निवृत्त होनेके लिये परामर्श देनेके लिये भी उनको बाध्य करता है।

(६) बिना श्रीगुरुदेवके उपदेशके चंचल मन अपना अधिकार स्थिर नहीं कर पाता। वह यह भूल जाता है कि मैं जीवात्माका सेवक हूँ। जीवात्मा परमात्माका किंकर है—इस धारणाको बाधित करनेके लिये वह आकाश-पाताल एक कर देता है। भगवानकी पूर्णताकी उपलब्धिके अभावमें अणु-जीवात्माका स्वरूप सदैव तन्द्राग्रस्त होता है। आत्माको सुला देनेसे मनको अनात्म वस्तुका भोग करनेके लिये सुयोग मिल जाता है। तभी पार्थिव आकाशमें विचरण करनेके लिये उसे दो पंख प्राप्त हो जाते हैं। मुण्डकोपनिषदमें दो पंखोंसे युक्त दो पक्षियोंका वर्णन मिलता है। विषयभोगमें प्रमत्त हुआ पक्षी (बद्ध जीवात्मा) भगवान रूपी दूसरे पक्षीको भी अपने भोगोंकी प्राप्तिमें सहायक बना लेना चाहता है। परन्तु जब वह जान लेता है कि परमात्मा-पक्षीकी सेवा करना ही उसका कर्त्तव्य है, तब वह मनरूपी सेवककी सहायतामें स्वयं कर्मी या भोगी बननेकी कमना-वासनाका सर्वथा त्याग कर देता है।

(७) ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये अद्वय ज्ञानवस्तु हैं। इसलिये जीवकी सत्तामें ब्राह्मण, योगी और भक्त स्वत: अवस्थित हैं। जिस समय ब्रह्मज्ञानमें बृहत् प्रीतीतिका अनुत्व या खण्डत्व दूसरे अणु या खण्डसे विवाद नहीं करता, उस समय वह ऐसा समझ सकता है कि परमात्मासे विच्छिन्न और वियुक्त अवस्थामें ही आत्म-प्रतीति अधोगतिको प्राप्त होनेके कारण परस्पर वैषम्य उपस्थित हुआ है। अत: परमात्मासे मिलित होना ही योगीका धर्म है। मिलित होने पर योगधर्म भजनके रूपमें बदल जाता है। भजनीय वस्तु के अबाध दर्शन, अबाध श्रवण, अबाध घ्राण, अबाध आस्वादन, अबाध स्पर्शन और अबाध चिन्तनके द्वारा चिद्विलास-सेवामें संयुक्त रहनेके कारण अधःस्थित पार्थिव दृष्टिकोणसे वह माया-बन्धनकी अनुपयोगिता लक्ष्य करता है—इसीको भक्तकी आत्मप्रतीति कहते हैं। इसीलिये वह स्वरूपत: कृष्णदास या वैष्णव है। यदि वह अपरा-शक्तिका आश्रय करता है, तब उसकी भोगप्रवृत्ति होती है और यदि पराशक्तिका आश्रय ग्रहण करता है, तब वह पराविद्यामें पारङ्गत होकर भगवत्-सेवामें प्रवृत्त होता है।

(८) अविकृत जीवात्मा या वैष्णवोंका नित्यकृत्य है—हरिसेवा। इसीका दूसरा नाम चिद्विलास है। वर्त्तमान बद्धावस्थामें जीव अचिद्विलासमें मत्त हुआ कहीं जड़भावको ग्रहण करनेमें प्रयत्नशील है तो कहीं आंशिक सत्य या सम्पूर्ण असत्यमें ही नियुक्त है। जहाँ अचिद्विलास प्रबल होता है, वहीं मनोधर्म है। जहाँ चिद्विलासका सहयोग है, वहाँ नित्यभजनीय

वस्तुका नित्य भजन होता है तथा वही नित्य भजनकारीकी विचरण भूमि है। वह न तो भूताकाश है, न जड़पिण्डगत पात्र है और न अन्तःकरणका विलासमात्र है। वहाँ स्थूल और सूक्ष्मका अद्वयत्व जीवात्मामें एकीभूत होकर भगवत्-सेवामें संलग्न है। इसलिये भक्तिके उपदेशकगण मनको ऐसा ही उपदेश दिया करते हैं कि जीव स्वरूपतः वैष्णव है। इसीलिये प्रह्लाद महाराज कहते हैं कि नित्य चिदिन्द्रियोंकी गति भगवत्सेवाकी ओर होती है और जड़ेन्द्रियोंकी गति (मनोधर्मियोंके लिये) बहिर्जगतकी ओर होती है। यही कारण है कि मनोधर्मी जीव सच्चिदानन्दमय उपदेशोंका अनुभव नहीं कर पाते।

(६) कभी-कभी मन तटस्थ धर्ममें अवस्थित होकर अपने प्रभु आत्माकी बातें उड़ा देता है तथा अपनी इन्द्रियोंको बहिर्जगतके भोगोंके संग्रहमें ही नियुक्त कर देता है। उस समय वह अपने प्रभु आत्माकी सेवा छोड़ कर अपनेको ही कर्त्ता और भोक्ता मानने लगता है। उस समय वह भजनके उपदेशोंकी अवज्ञा करता है। परन्तु जिस समय वह कृष्ण सेवाके लिये उपयोगी होता है, उस समय वह आत्म-शासनके उपदेशोंका श्रवण करता है। इसी समय वह अपने स्वरूपकी उपलब्धि करके संसारिक भोगोंसे मुँह मोड़ कर भगवत्-सेवामें प्रवृत्त होता है। यही साधनका फल है। जीवन्मुक्त पुरुषोंकी प्रपंचमें अवस्थिति जीवोंके कल्याण एवं अपने नित्य मंगल संग्रहके उद्देश्यसे ही है।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रीसरस्वती ठाकुर

आचार और प्रचार

आचरणकारी प्रचार-प्रधान भक्त ही सर्वश्रेष्ठ हैं

श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रिय पार्षद नामाचार्य हरिदास ठाकुर प्रतिदिन तीन लाख हरिनाम करते थे। साथ ही वे श्रीचैतन्य महाप्रभुके आदेशानुसार श्रीनित्यानन्द प्रभुके साथ गाँव-गाँव और घर-घरमें जाकर हरिनामका प्रचार करते थे। इनके प्रचारका लोगों पर बहुत ही प्रभाव पड़ता था। बड़े से बड़े पापी और दुराचारी लोगोंकी जीवनकी धारा भी इनके आचारयुक्त प्रचारसे प्रभावित होकर बदल गयी थी। एक नवयौवन-सम्पन्ना परमासुन्दरी वेश्या भी इनके सम्पर्कमें आकर परम वैष्णवी हो गयी थी। श्रीमन्महाप्रभुके परम प्रिय पण्डितप्रवर श्रीसनातन गोस्वामीने इन भक्ताग्रगण्य हरिदास ठाकुरसे कहा था—

"आपनि आचरे केह ना करे प्रचार।
प्रचार करये केह ना करे आचार॥
आचार प्रचार नामेर कर दुई कार्य।
तुमि सर्व गुरु तुमि जगतेर आर्य॥"

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

—हरिदासजी! संसारमें कुछ ऐसे लोग हैं जो स्वयं श्रीहरिनाम तो करते हैं, परन्तु वे श्रीहरिनामका प्रचार नहीं करते; कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो केवल नामका प्रचार तो करते हैं, परन्तु स्वयं उसका आचरण नहीं करते अर्थात् स्वयं हरिनाम नहीं करते; किन्तु आप धन्य हैं, आप तो स्वयं भी श्रीहरिनाम करते हैं तथा श्रीहरिनामका प्रचार भी करते हैं। इसलिये आप सबसे श्रेष्ठ हैं, आप जगद्गुरु हैं।

साधु पाठकों! श्रीसनातन गोस्वामीकी उक्तिका आप भलीभाँति विवेचन करें। रुचि भेदसे भक्त तीन

प्रकारके होते हैं—(१) आचार-प्रधान भक्त, (२) प्रचार-प्रधान भक्त और (३) आचार-प्रचार-सम्पन्न भक्त। उत्तम, मध्यम और कनिष्ठके विचारसे आचार-प्रचारसम्पन्न भक्त ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं। केवल आचार-प्रधान भक्त मध्यम श्रेणीके हैं तथा केवल प्रचार-प्रधान भक्त कनिष्ठ श्रेणीके हैं। पहले यह जान लेना आवश्यक है कि आचार किसे कहते हैं। साधुओंके धर्माचरणका नाम ही आचार है अर्थात् साधु पुरुष जिस प्रकारसे धर्मका आचरण करते हैं वैसे आचरणका नाम 'आचार' है। उसी धर्मका जगत्‌में दूसरे जीवोंके निकट प्रचार करनेका नाम ही 'प्रचार' है। आचार और प्रचार कार्यमें नियुक्त होनेसे पहले साधु-पुरुषोंके धर्मकी शिक्षा लेनी आवश्यक है। कोई-कोई यह शिक्षा लेकर अर्थात् साधुका धर्म क्या है, इसे जानकर स्वयं आचरण करनेसे पहले ही प्रचार कार्यमें जुट जाते हैं। परन्तु इसका जैसा चाहिए वैसा फल नहीं होता। ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें भी कहा गया है—

"उपदेशं करोत्येव न परीक्षां करोति यः।
अपरीक्षोपदिष्टं यत् लोकनाशाय तद्भवेत्॥"

जो लोग उपदेश तो करते हैं, परन्तु स्वयं उसकी परीक्षा नहीं करते—आचरण नहीं करते, उनके थोथे उपदेशसे संसारमें विविध प्रकारके उत्पात ही उपस्थित होते हैं। इतिहासमें तथा मनुष्यके दैनन्दिनि चरित्रसे इस कथनके भूरि-भूरि उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आज ऐसे उदाहरणोंकी भी भरमार है कि गृहस्थ भक्त आचार्य बन कर सन्यास-लिङ्ग और मंत्र प्रदान करते हैं और उससे संन्यास ग्रहण करनेवालोंका विशेष अमंगल होता है। जो लोग स्वयं भिक्षाश्रम ग्रहणपूर्वक संन्यास-धर्मका आचरण करते हैं, वे ही भिक्षाश्रम—संन्यास-आश्रयके यथार्थ गुरु हैं। गृहस्थोंमेंसे जो लोग नवधाभक्तिका आचरण करनेमें पटु हैं, वे ही भक्तिकाण्डकी आचार्यता ग्रहण करनेके योग्य हैं। कोई-कोई स्वयं शुद्धभक्तिका आचरण नहीं करते, बल्कि कर्मकाण्डमें जिन स्मार्त्त-सम्मत आचार्योंका आदर है, उन्हीं आचारोंका आचरण करते हैं। ऐसे लोग यदि भक्ति-तत्त्वका उपदेश दें, तो उनका यह कार्य सर्वशास्त्रविरुद्ध है। इसलिये प्रचार करनेसे पूर्व उसका स्वयं आचार करना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ भक्तजन साधुपुरुषोंके धर्मका आचरण करते-करते भजनानन्दमें मग्न होकर प्रचार कार्यकी अवज्ञा करते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि केवल भजनानन्दीकी अपेक्षा आचार-प्रचारकारी जगतका अधिक कल्याण करते हैं। श्री-चैतन्यभागवतमें भी कहा गया है—

जपकर्त्ता हइते उच्च संकीर्त्तनकारी।
शतगुणाधिक फल पुराणेते धरि॥
शुन विप्र मन दिया इहार कारण।
जपि आपनारे सबे करये पोषण॥
उच्च करि करिले गोविन्द-संकीर्तन।
जन्तुमात्र सुनिया पाय विमोचन॥

अर्थात् पुराणोंमें ऐसा कहा गया है कि भगवन्नाम जपकी अपेक्षा उसका संकीर्तन सैकड़ों गुन अधिक फल प्रदान करता है। विप्र! इसका कारण यह है कि जपकर्त्ता केवल मात्र अपना ही कल्याण करता है। परन्तु उच्च संकीर्तनकारीके मुखसे गोविन्द आदि भगवन्नामोंके कीर्तनको सुन कर कीट, पतङ्ग, पशु-पक्षी स्थावर और जङ्गम समस्त प्राणियोंको संसारसे सदाके लिये मुक्ति मिल जाती है।

अतएव आचार-प्रचार सम्पन्न वैष्णवोंके चरणोंमें हमारा करोड़ों-करोड़ों दण्डवत-प्रणाम हैं!

—ॐविष्णुपाद श्रीठाकुर भक्तिविनोद

उपनिषद्-वाणी

[छान्दोग्य–५]

प्राचीन कालमें जनश्रुत नामक एक विख्यात राजा हो चुके हैं। उनके पुत्रके पौत्रका नाम था जानश्रुति। राजाश्रुति बड़े ही दाता थे। उनकी ऐसी इच्छा थी कि लोग सब जगह मेरा ही अन्न खायें, और मेरे ही गृहमें निवास करें। इसलिये उन्होंने सब जगह लोगोंके रहनेके लिये धर्मशालाएँ और उनके भोजनके लिये अन्न-छत्र बनवा दिये थे।

एक दिन रातके समय उधरसे कुछ हंस उड़ कर गये। उनमेंसे एक हंसने दूसरे हंससे कहा—'अरे ओ भल्लाक्ष! ओ भल्लाक्ष! देख, जानश्रुति पौत्रायणका तेज द्युलोकके समान प्रकाशित हो रहा है, तू उसको लाँघो नहीं, नहीं तो वह तेज तुझे भस्म कर डालेगा।' ऐसा सुन कर दूसरे हँसने कहा—'अरे! तू इस राजाका कौन सा महत्व देख कर इसको इतना सम्मान प्रदान कर रहा है? क्या तू इसे गाड़ीवाले रैक्क (शकटयान रैक्क) के समान बतलाता है?" इस पर पहलेने पूछा—'यह गाड़ी रैक्क कैसा है?' इसके उत्तरमें दूसरे हंसने कहा—"जिस प्रकार द्यूतक्रीड़ामें विजेता व्यक्तिके अधीन सारे पासे हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रजा जो कुछ सत्कर्म करती है, वह सब उस रैक्कको प्राप्त हो जाता है। जो रैक्कको जानता है, उसीने उसके सम्बन्धमें मुझे इस प्रकार बतलाया है।

दोनों पक्षियोंकी इस बातको जानश्रुति पौत्रायण ने सुन लिया। उसने दूसरे दिन प्रातःकाल उठते ही अपने सेवकोंको गाड़ीवाले रैक्ककी खोज करने लिये भेजा। बहुत खोजनेके पश्चात् राजाके सेवकोंने एक गाड़ीके नीचे खाज खुजलाते हुए रैक्कको देखा। तत्पश्चात् उन्होंने लौट कर राजाको यह खबर दी। तब वह राजा एक हजार गौएँ, हार, और अपनी कन्या—इन सबको लेकर रैक्कके पास गया और उसने उन वस्तुओंको कुछ ग्रामोंके साथ भेंट-स्वरूप प्रदान कर रैक्कसे उपदेशके लिये प्रार्थना की। पहले-पहल रैक्कने राजाको "शूद्र" कह कर सम्बोधन किया अर्थात् रैक्ककी प्रशंसा सुन कर राजाको दुःख हुआ था, इसलिये उन्हें "शूद्र" सम्बोधन किये थे। अन्तमें उन्होंने राजाको उपदेश किया था। उनके उपदेशःका सार यह है—वायु ही संवर्ग है। जब आग बुझ जाती है, सूर्य और चन्द्रमा अस्त हो जाते हैं, तो वायुमें लीन हो जाते हैं। जल सूख जाने पर वायुमें ही लीन हो जाता है। वायु सारे जलको अपनेमें लीन कर लेता है। यह अधिदैवत दृष्टि है।

एकबार कपिगोत्रज शौनक और कक्षसेनके पुत्र अभिप्रतारी भोजन करने जा रहे थे। उनको भोजन परोसा जा रहा था। उसी समय एक ब्रह्मचारी उनके पास आकर भिक्षा माँगने लगा। परन्तु उन्होंने भिक्षा नहीं दी। तब उसने कहा—'भुवनोंके रक्षक उस देव प्रजापतिने चार महात्माओंको ग्रस लिया है। अनेक प्रकारसे रहनेवाले मनुष्य उस देवताको देख नहीं पाते। अतएव जिसके लिये यह अन्न है, उसे ही नहीं दिया गया।' उस वाक्यका शौनकने मनन किया और ब्रह्मचारीके पास आकर कहा—'जो देवताओंका आत्मा, प्रजाओंका उत्पत्तिकर्त्ता, हिरण्यदन्ष्ट्र, भक्षणशील और मेधावी हैं, जिनकी बड़ी महिमा कही गयी है, जिसको दूसरे खा नहीं सकते; मैं उसीकी उपासना करता हूँ।' ऐसा कह कर उन्होंने ब्रह्मचारी को भिक्षा दिलवायी थी।

उपर्युक्त अग्नि आदि और वायु—पाँच और प्राण आदि पाँच—ये दस कृत (कृत नामक पासेसे उपलक्षित द्यूत) हैं। अतः सम्पूर्ण दिशाओंके अन्न ही ये दस कृत हैं। विराट ही अन्नाद अर्थात् अन्न भक्षण करने वाला है। उसके ही द्वारा सब कुछ देखा जाता है।

जबालाके पुत्र सत्यकामने अपनी माता जबालासे पूछा—'माँ ! मैं ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक गुरुकुलमें निवास करना चाहता हूँ। अतएव मेरा गोत्र क्या है, बता दो।' जबालाने उससे कहा—'बेटा ! मैं तुम्हारा गोत्र नहीं जानती। युवावस्थामें मैं बहुत कार्य करनेवाली परिचारिणी थी, उसी समय मैंने तुझे प्राप्त किया था। मेरा नाम जबाला है, और तेरा नाम सत्यकाम है। अतएव तू अपना परिचय सत्यकाम जबालाके नामसे देना।'

सत्यकाम महर्षि हारिद्रुमत गौतमके पास उपस्थित हुए और बोले—'मैं पूज्य श्रीमानके पास ब्रह्मचर्य पूर्वक वास करना चाहता हूँ।' गौतमने उससे पूछा—'तुम किस गोत्रके हो ?' उसने निवेदन किया—'मैं किस गोत्रका हूँ—यह नहीं जानता हूँ। मैंने मातासे पूछा था। उसने मुझे यह बतलाया है कि 'युवावस्था में मैं बहुत कार्य करनेवाली परिचारिणी थी, उसी समय तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है। मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। अतएव तुम्हारा परिचय सत्यकाम जबाला है।' अतः आचार्यदेव ! मैं सत्यकाम जबाला हूँ।' यह सुन कर गौतम बड़े सन्तुष्ट हुए और बोले—'ऐसा सत्य भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता। अतः तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूँगा।' तत्पश्चात् उसका उपनयन करके चार सौ दुर्बल गौएँ देकर बोले—'तू इन गौओंके पीछे जा।' उन्हें ले जाते समय सत्यकाम यह कहता गया—'जब तक ये गाएँ एक सहस्र नहीं हो जायेंगी, तब तक मैं नहीं लौटूँगा।' ऐसा कह कर वह उन गौओंके पीछे-पीछे वनमें चला गया और जब तक उनकी संख्या एक सहस्र नहीं हो गयी, तब तक वह वनमें ही रहा।

इस प्रकार बहुत वर्षोंके पश्चात् गौओंकी संख्या एक सहस्र पूर्ण हो जाने पर एक साँड़ने कहा—'सत्यकाम ! हमारी संख्या एक सहस्र पूर्ण हो गयी है, अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे। क्या तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' सत्यकामने कहा—'अवश्य बतलायें।' तब साँड़ने उससे कहा—पूर्व दिक् 'कला' है, पश्चिम दिक् कला' है, दक्षिण दिक् 'कला' है, उत्तर दिक् 'कला है—यह ब्रह्मका प्रकाशवान् नामक चार कलाओं वाला पाद है। जो ऐसा जान कर ब्रह्मकी उपासना करता है, वह प्रकाशवान होता है और प्रकाशवान लोकको जीत लेता है। अग्नि तुझे दूसरा पाद बतलावेंगे।'—ऐसा कह कर साँड़ चुप हो गया।

दूसरे दिन उसने गौओंको गुरुकुलकी ओर हाँक दिया। सायंकालमें उसने एक जगह गौओंको एकत्र कर अग्नि प्रज्वलित किया और अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। उस समय अग्निने उसको ब्रह्मका दूसरा पाद बतलाया—पृथ्वी कला है, अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है और समुद्र कला है। यह चार कलाओं वाला अनन्तवान नामक ब्रह्म का चतुष्पाद है। इसको इस प्रकार जान लेनेपर अनन्तवान होकर अनन्तवान नामक लोकको जीता जा सकता है।

दूसरे दिन सायंकाल गौओंको किसी स्थान पर एकत्रित होने पर सत्यकामने पुनः अग्नि प्रज्वलित कर उसके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। उस समय एक हंस उसके पास उपस्थित होकर बोला—'सत्यकाम ! क्या मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' सत्यकाम स्वीकृत होने पर हंसने इस प्रकार उपदेश किया—'अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्रमा कला है तथा विद्युत कला है। यह चतुष्कला ब्रह्मका ज्योतिष्मान नामक चतुष्पाद है। इस पादकी उपासना करने से ज्योतिष्मान होकर ज्योतिष्मान लोकको जीता जा

रुकता है। मद्गु, तुझे चौथा पाद बतलावेगा'–ऐसा कह कर हंस चला गया।

दूसरे दिन फिर उसने गौओंको गुरुकुलकी ओर हाँक दिया। वे सायंकाल जहाँ एकत्रित हुईं वहीं अग्नि प्रज्ज्वलित करके गायोंको रोक कर अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। उसी समय मद्गु उसके पास उतर कर बोला—'मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद उपदेश कर रहा हूँ—'प्राण कला है, नेत्र कला है, श्रोत्र कला है और मन कला है। यह ब्रह्मका आयतनवान नामक चतुष्कला है। इसको जान लेने पर आयतनवान होकर आयतनवान नामक लोकको जीत लिया जा सकता है।

तत्पश्चात् सत्यकाम आचार्यकुलमें पहुँचा। उसे देख कर आचार्यने पूछा—'सत्यकाम! तू ब्रह्मवेत्ता सा दिखलायी दे रहा है। क्या तुझे किसीने उपदेश दिया है?' सत्यकामने नम्रतासे उत्तर दिया—'आचार्य देव! मुझे मनुष्योंसे भिन्न (देवताओं) ने उपदेश दिया है। अब मेरी यह प्रार्थना है कि आप ही मुझे विद्याका उपदेश करें, क्योंकि मैंने ऐसा सुना है कि आचार्यसे जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुताको प्राप्त होती है।' तब आचार्यने उसे उसी विद्याका उपदेश दिया।

उपकौशल नामक एक ब्रह्मचारीने सत्यकाम जाबालाके यहाँ रह कर बारह वर्ष तक उनकी सेवा की। किन्तु आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंका तो समावर्तन संस्कार कर दिया, केवल इसीका नहीं किया। ऐसा देख कर आचार्यकी पत्नीने आचार्यसे कहा—'यह ब्रह्मचारी खूब तपस्या कर चुका है, इसने अग्नियोंकी भी अच्छी तरह सेवा की है, अतः इसे भी विद्याका उपदेश कर दीजिये।' किन्तु आचार्य अपनी भार्याकी बात सुन कर भी उपकौशलको उपदेश दिये बिना ही कहीं बाहर चले गये। यह देख कर उपकौशकको बड़ा दुःख हुआ। उसने अनशन करनेका निश्चय किया। तब आचार्य पत्नीने कहा—'अरे ब्रह्मचारिन्! तू भोजन कर, भोजन क्यों नहीं करता?' उपकौशलने कहा—'मातः! इस मनुष्यमें अनेक दिशाओंमें जानेवाली बहुतेरी कामनाएँ हैं। मैं व्याधियोंसे पूर्ण हूँ; इसलिये भोजन नहीं करूँगा।'

फिर अग्नियोंने एकत्रित होकर कहा—'इस ब्रह्मचारीने हमारी अच्छी तरहसे सेवाकी है। अच्छा हमलोग ही इसे उपदेश करें।' ऐसा निश्चित करके उन्होंने कहा—'प्राण ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, और 'ख' ब्रह्म है। ब्रह्मचारीने कहा—'प्राण ब्रह्म है'—यह तो मैं जानता हूँ, परन्तु 'क' और 'ख' कैसे ब्रह्म हैं—यह नहीं जानता।' यह सुन कर अग्नियोंने कहा—'जो 'क' है, वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' है। 'ख' = आकाश अर्थात् आकाश ब्रह्म है। इस प्रकार प्राण और उसके आश्रयभूत आकशका उपदेश किया।

फिर उसे गार्हपत्याग्निने शिक्षा दी—'पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य—ये मेरे चार शरीर हैं। आदित्यके अन्तर्गत जो पुरुष दिखायी देता है, वह मैं ही हूँ। जो ऐसा जानकर उपासना करता है, उसके सारे पापोंका नाश हो जाता है, वह अग्निलोकवान होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है। उज्वल जीवन बिताता है, तथा कभी भी क्षीण नहीं होता। उसका हम इस लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं।

तत्पश्चात् अन्वाहार्यपचन नामक अग्निने उपदेश किया—'जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा–ये मेरे चार शरीर हैं। चन्द्रमाके अन्तर्गत दिखायी पड़नेवाला पुरुष मैं ही हूँ। इस प्रकार जानकर उपासना करनेसे ऊपर बतलाये गये फलोंकी प्राप्ति होती है।

फिर आहवनीय अग्निने उपदेश किया—'प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत—ये चार मेरे शरीर हैं। विद्युतके अन्तर्गत दिखायी देनेवाला पुरुष मैं ही हूँ। ऐसा जान कर उपासना करनेसे उपर्युक्त फलोंकी प्राप्ति होती है।

तदनन्तर आचार्यने उपकौशलको उपदेश किया—'नेत्रोंमें दिखलायी पड़नेवाला पुरुष ही आत्मा है, अमृत है, अभय है और ब्रह्म है। उसमें घृत या जल डालनेसे पलकोंमें ही चला जाता है। इसको 'संयद्वाम' कहते हैं। सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओरसे इसीको प्राप्त होती हैं। यही वामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण वामोंका वहन करता है। यही भामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकोंमें भासमान होता है। इसलिये शवकर्म करे अथवा न करे ब्रह्मवेत्ता अर्चि-अभिमानी देवताको प्राप्त होता है। फिर अर्चि-अभिमानी देवतासे दिवसाभिमानी देवता, वहाँसे शुक्लपक्षाभिमानी देवता, उत्तरायणके छः मासों, पश्चात् संवत्सर, उससे आदित्य, फिर आदित्यसे चन्द्रमा और चन्द्रमासे विद्युत् लोकको प्राप्त होता है। वहाँसे एक अमानव पुरुष उसे ब्रह्म-धाममें ले जाता है। यही देवयान या ब्रह्ममार्ग है। इसे जान लेने पर फिर पुनरागमन नहीं होता।

यह विचरण करनेवाला परम पुरुष ही यज्ञ है। यह सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करता है। मन और वाक्—ये दो इसके मार्ग हैं। इनमेंसे एक मार्गका ब्रह्मा मन द्वारा संस्कार करते हैं। होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणीद्वारा दूसरे मार्गका संस्कार करते हैं। यदि प्रातरनुवाकके आरम्भ हो जाने पर परिधानीया ऋचाके उच्चारणसे पूर्व ब्रह्मा बोल उठता है तो वह केवल एक मार्गका ही संस्कार करता है, दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक पैरसे चलनेवाला व्यक्ति या रथ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार उसका यज्ञ भी नष्ट हो जाता है। फिर यजमानका नाश होता है; अतएव यजमान अधिक पापी होता है। यदि उस समय ब्रह्मा कुछ नहीं बोलते हैं, तो सारे ऋत्विक मिल कर दोनों मार्गोंका संस्कार करते हैं। यजमान और यज्ञ दोनों स्थित रहते हैं और ऐसा यज्ञ भी श्रेष्ठ होता है।

प्रजापतिने लोकोंको लक्ष्य बना कर ध्यानरूप तप किया। उनके तपके प्रभावसे पृथ्वीसे अग्नि, अन्त-रिक्षसे वायु, और द्यु लोकसे आदित्य उत्पन्न हुए। पुनः तपके प्रभावसे अग्निसे ऋक्, वायुसे यजुः और आदित्यसे साम उत्पन्न हुए। फिर त्रयी विद्याको लक्ष्य करके तप करने पर भूः भुवः और स्वः प्रकाशित हुए। यज्ञमें ऋक् श्रुतिकी क्षति होने पर भूः स्वाहा कह कर गार्हपत्याग्निमें होम करना होता है। यजुः-श्रुति-की क्षति होने पर भुवः स्वाहा कह कर दक्षिणाग्निमें हवन करना होता है। और साम-श्रुतिकी क्षति होने पर स्वः स्वाहा कह कर आहवनीयाग्निमें हवन करना होता है। इस विषयमें भलीभाँति जाननेवाला ब्रह्मा ही सब कर्मोंके अपूर्णाङ्गको पूर्ण करनेमें समर्थ होता है। इसलिये यज्ञमें उपयुक्त विद्वान ब्रह्माको नियुक्त करना आवश्यक होता है।

—त्रिदण्डि स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

अवधूत-गीता

[गत संख्यासे आगे]

(१२) मधुकरसे शिक्षा

मधुकर दो प्रकारके होते हैं—(क) भौंरा, (ख) मधुमक्खी।

(क) भौंरा जिस प्रकार नाना प्रकारके फूलोंसे—चाहे वे छोटे हों, या बड़े, थोड़ा-थोड़ा मधु संग्रहपूर्वक अपना जीवन निर्वाह करता है, उसी प्रकार गुरुदास को भी छटे-बड़े सभी प्रकारके शास्त्रोंसे केवल सार तत्त्व संग्रह कर भगवद्भजनमें लगा रहना चाहिए तथा किसी गृहस्थके प्रति हिंसा-द्वेषका भाव पोषण न करके सबसे मधुकरी भिक्षा लेकर जीवन निर्वाह करते हुए श्रीगुरुदेव औरकृष्णकी सेवा करनी चाहिए।

(ख) भिक्षु गुरुदासको भविष्यके लिये कुछ संग्रह नहीं रखना चाहिए। अन्यथा जिस प्रकार मधुमक्खियाँ अपने संग्रह (मधु) के साथ अपने जीवन को भी गवाँ देती हैं, उसी प्रकार संग्रहकारी साधक को भी अपनी संग्रहकी हुई वस्तुओंके साथ अपने प्राणोंको गवाँ देना पड़ेगा।

(१३) हाथीसे शिक्षा

स्पर्शकी आसक्ति भी सर्वनाशका मूल है—ऐसा जान कर गुरुदासको स्त्रियोंके स्पर्शसे सदा बचना चाहिये। यदि वह पैरसे भी काठकी बनीं हुई स्त्रीका भी स्पर्श करेगा तो जैसे हथिनीके अङ्ग-सङ्गसे हाथी बँध जाता है, उसी प्रकार वह भी बँध जायगा। बुद्धिमान पुरुषको किसी भी स्त्रीको कभी भी भोग्य रूपमें स्वीकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह मूर्त्तिमान मृत्यु है। यदि साधक किसी स्त्रीसे सम्पर्क रखेगा तो वह हथिनीके पीछे हाथियोंसे हाथीकी भाँति अधिक बलवान दूसरे पुरुषोंके द्वारा मारा जायगा।

(१४) मधुहारीसे शिक्षा

जिस संचित धनका दान या भोग नहीं किया जाता है, उस धनको कोई दूसरा पुरुष ही भोग करता है। इस विषयमें मैंने शहदकी मक्खीके छत्तेसे शहद निकालने वाले मधुहारीको अपना गुरु बनाया है। जिस प्रकार मधुहारी मधुमक्खियोंके आने-जाने से, मधु कहाँ है—इसे जान कर उस मधुको निकाल ले जाता है, उसी प्रकार गृहस्थोंके बहुत कठिनाईसे संचित किये पदार्थोंको, जिससे वे सुख भोगकी अभिलाषा रखते हैं, गुरुसेवक छल, बल और कौशल से संग्रह करके उसे गुरु-कृष्णकी सेवामें अर्पण कर देते हैं। दूसरी बात, गृहस्थोंके संग्रहीत पदार्थोंके अग्रभागको गुरुसेवक संन्यासी-ब्रह्मचारी (भिक्षा आदिके रूप में) ग्रहण करते हैं और गुरु एवं कृष्ण की सेवामें लगाकर अपना और साथ ही उस गृहस्थ का भी कल्याण करते हैं।

(१५) हरिनसे शिक्षा

ग्राम्य-गीत अर्थात् विषय-सम्बन्धी गीत कभी नहीं सुनना चाहिए; नहीं तो इसमे साधकका सर्वनाश हो जाता है। इस विषयमें मैंने हिरनको अपना गुरु बनाया है। जिस प्रकार हिरन व्याधके गीतसे मोहित होकर बँध जाता है, उसी प्रकार ग्राम्य गीतों के आपात मधुर स्वर-लहरीको सुनने वाला भी माया के चक्करमें सदाके लिये बँध जाता है और जन्म-जन्मान्तरों तक नाना प्रकारके दुःखोंको भोगता है। हिरनीके गर्भसे पैदा हुए ऋष्यश्रृङ्ग मुनि मायाविनी

वेश्याओंके नृत्य-गीत आदिसे मोहित होकर उनके वशमें हो गये थे और उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे।

(१६) मछलीसे शिक्षा

साधकको प्राकृत रसोंके आस्वादनके वशीभूत नहीं होना चाहिए। जो साधक स्वादके वशीभूत हो जाता है, वह उसी प्रकार मारा जाता है जिस प्रकार मछली काँटेमें लगे हुए माँसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गवाँ देती है। असद्बुद्धि वाले मनुष्य अतिशय दुर्जय जिह्वा-वेगके अधीन हो अपना अर्थ और परमार्थ दोनों गवाँ देते हैं।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजेतान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥

(श्रीमद्भा० ११-८-२०)

अर्थात् जब तक जिह्वाके वेगको नहीं जीत लिया जाता है, जब तक दूसरी इन्द्रियोंके जीत लेने पर भी जितेन्द्रिय नहीं हुआ जाता। जिन्होंने जिह्वाको जीत लिया है, वही सर्वथा इन्द्रिय-विजयी—गोस्वामी कहलानेके योग्य है। क्योंकि यदि आहार करना बंद कर दिया जाय तो दूसरी इन्द्रियों पर सहजही विजय प्राप्त की जा सकती है; परन्तु इससे रसना-इन्द्रिय वशमें नहीं होती। वह तो भोजन बन्द कर देनेसे और भी प्रबल हो उठती है। अतएव रसनेन्द्रियको वशमें किये बिना जितेन्द्रिय नहीं हुआ जाता। और यदि रसनेन्द्रियको वशमें कर लिया जाय तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं। परन्तु रसनेन्द्रियको वशमें करना बहुत ही कठिन कार्य है। इसे वशमें करनेके दो ही उपाय हैं—(१) रसनेन्द्रिय द्वारा रसयुक्त भगवन्नामका ऊँचे स्वरसे निरन्तर कीर्तन और (२) उसके द्वारा सेव्यबुद्धिसे भगवत्-प्रसादका आस्वादन करना। एक औषधि है, तो दूसरा पथ्य है। अतएव गुरुसेवक श्रीगुरुदेव एवं श्रीकृष्णका अनुगमन करता हुआ सदा-सर्वदा भव-रोगकी उक्त औषधि और पथ्यका सेवन करे। श्री गीतामें भी भगवानने कहा है—

"रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते।"

पिंगला नामक वेश्यासे शिक्षा

राजन्! मैंने विषय-भोगसे वैराग्य एवं त्यागकी शिक्षा पिंगला नामक एक वेश्यासे ग्रहण की है। प्राचीनकालकी बात है, विदेह नगरीमें एक वेश्या रहती थी। उसका नाम था पिंगला। वह बड़ी ही रूपवती एवं स्वेच्छाचारिणी थी। एक दिन रातके समय किसी पुरुषको अपने रमणस्थानमें लानेके लिये खूब बन-ठन कर—उत्तम वस्त्राभूषणोंसे सजधज कर अपने घरके बाहरी दरवाजे पर खड़ी रही। उसे पुरुष-की नहीं, धनकी कामना थी और उसके मनमें यह कामना इतनी बलवती हो उठी थी कि वह किसी भी पुरुषको उधरसे आते-जाते देखकर यही सोचती कि यह कोई धनी व्यक्ति है और मुझे धन देकर उप-भोग करनेके लिये ही आ रहा है। जब आने-जाने वाले आगे बढ़ जाते तब फिर वह सोचने लगती कि अबकी बार निश्चय ही धनी पुरुष मेरे पास आवेगा और मुझे बहुत सा धन देगा। इस प्रकार दुराशामें दरवाजे पर आधी रात तक प्रतीक्षा करती। वह कभी बाहर आती, तो कभी भीतर। परन्तु उस दिन कोई भी उसके पास न आया। सचमुच आशा बहुत ही बुरी है। धनीकी प्रतीक्षा करते-करते उसका मुँह सुख गया, चित्त व्याकुल हो गया। उस समय उदास और दुःखी पिंगलाके हृदयमें ग्लानि उत्पन्न हुई। साथ ही उस वृत्तिके प्रति दुःख-बुद्धि और वैराग्य हुआ। उस समय उसके मुँहसे ये शब्द गीतके रूपमें निकले थे—

'हाय! हाय! मैं इन्द्रियोंके अधीन हो गयी हूँ। मैं कितनी बड़ी अज्ञान हूँ कि इन दुष्ट और असत् पुरुषोंसे तुच्छ विषय-सुखकी लालसा करती हूँ। यह कितने दुःखकी बात है। मैं सचमुच मूर्ख हूँ। देखो

तो सही, मेरे निकटसे निकट हृदयमें मेरे सच्चे स्वामी भगवान विराजमान हैं। केवल वे ही यथार्थ सुख एवं परमार्थ-रूपी सच्चे धनको देने वाले हैं। वे नित्यों में भी परम नित्य हैं। जगत्के पुरुष अनित्य हैं। हाय ! हाय ! मैंने अबतक अपने ऐसे प्राण-धनको धनको छोड़ कर उन तुच्छ और कामी मनुष्योंका सेवन किया है, जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते, उलटे दुःख-भय, आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं। बड़े खेदकी बात है, मैंने अति घृणित और निन्दनीय आजीविका वेश्यावृत्तिका आश्रय लिया और व्यर्थ ही अपने शरीर और मनको क्लेश दिया। मेरा यह शरीर भी बिक गया है। लम्पट लोभी और निन्दनीय पुरुषोंने इसे खरीद लिया है और मैं इतनी मूर्ख हूँ कि इसी शरीरसे धन और रति-सुख चाहती हूँ। मुझे धिक्कार है। हाड़-माँस-रुधिर और चर्मसे बने हुए रस शरीर रूपी घरको—जिसके आँख, कान, नाक, मुँह, गुदा और उपस्थ आदि नौ द्वारोंसे नाना-प्रकारके घृणित मल आदि निकलते ही रहते हैं—मेरे अतिरिक्त कौन आदर करता है। यों तो यह जीवन्मुक्तोंकी नगरी है तथा इसे बड़ा ही दुर्लभ बतलाया गया है, परन्तु इसमें केवल मैं ही सबसे मूर्ख और आत्मघाती हूँ, क्योंकि अकेली मैं ही इस दुर्लभ मनुष्य शरीरको पाकर भी देह-धारियोंके आत्मस्वरूप और प्रियतम सुहृद् परमात्माको छोड़ कर दूसरे कामी पुरुषकी अभिलाषा करती हूँ। नहीं, नहीं अब मैं कदापि ऐसा नहीं कर सकती। अब मैं अपने आपको तथा अपना सब कुछ प्रियतम भगवानके चरणोंमें समर्पण करके उनके साथ लक्ष्मीजीकी भाँति विहार करूँगी। जगतके विषय भोग और उनको देनवाले पुरुष तथा कालके अधीन देवतावृन्द—ये बेचारे तो स्वयं ही कालके गालमें पड़े-पड़े कराह रहे हैं। ये मेरा क्या कल्याण कर सकते हैं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मेरे किसी शुभ कर्मसे भगवान् विष्णु मुझ पर प्रसन्न हैं, तभी तो मेरे हृदयमें सब प्रकारसे सुख प्रदान करने वाला वैराग्य उदय हो रहा है। अहो ! यदि मैं मन्द-भागिनी होती, तो वह वैराग्य, जिसके उदय होने पर मनुष्य अपना पुत्र-परिवार, धन-जन सब कुछ छोड़ कर परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है—आज मेरे हृदयमें कदापि उदित नहीं होता। अब मैं भगवान्का यह उपकार सिर झुका कर स्वीकार करती हूँ और विषय भोगोंकी दुराशा छोड़ कर उन्हीं जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ। मुझे अब प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर सन्तोष पूर्वक जीवन बीताऊँगी। अब मैं किसी भी दूसरे पुरुषकी ओर न देख कर अपने हृदयेश्वर आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही बिहार करूँगी। मैं ब्रह्मा आदि देवताओं छोड़ कर भी भगवान्की ही शरण लूँगी। संसार-कूपमें गिरे हुए विषय मोहमें अन्ध और काल-सर्पसे आक्रमण किये गये मुझ जैसे दीन-हीन और असहाय प्राणियोंका उद्धार उनके बिना दूसरा कोई भी नहीं कर सकता। अतएव मैं सब प्रकारकी दुराशाओंका परित्याग कर भगवान्की शरण लेकर सब प्रकारसे सुखी हो जाऊँगी।' ऐसा निश्चय करके पिंगलाने धन एवं विषयभोग आदि समस्त प्रकारकी आशाओंका त्याग कर दिया और भगवान्का स्मरण करती हुई शान्त भावसे अपनी सेज पर सो गयी।

राजन ! सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है; क्योंकि पिंगला वेश्याने जब पुरुषकी आशा छोड़ दी, तभी वह सुखसे सो सकी—

> आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।
> यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥
> (श्रीमद्भा० ११।८।४४)

अतएव भगवान्के श्रीचरणकमल ही जीवोंके लिये परम आश्रय हैं। उनको छोड़ कर अन्यत्र कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है—ऐसा जान कर गुरुदासको विषय भोगोंसे वैराग्य लाभ कर अनन्य चित्तसे भगवानका भजन करना चाहिये।

(१८) कुरर पक्षीसे शिक्षा

मनुष्यको जो वस्तुएँ अधिक प्रिय लगती हैं, उनका वह बड़े परिश्रमसे संग्रह करता है तथा उनके प्रति अतिशय आसक्त रहता है, यह संग्रह और आसक्ति ही मनुष्योंके दुःखके कारण हैं। जो मनुष्य इन दोनोंसे अलग रहता है, अर्थात् निष्किंचन भावसे रह कर जो कुछ भी मिल जाता है उसीसे सन्तुष्ट हुआ भगवान्‌का भजन करता है, उसे अनन्त सुख-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। एक कुरर पक्षी एक माँसका टुकड़ा लिये हुए था। यह देख कर उससे बलवान पक्षी, जिनके पास माँसका टुकड़ा न था, उस पर झपट पड़े और उससे माँसका टुकड़ा छीननेके लिये चारों ओरसे घेरकर चोंचोंसे मारने लगे। कुरर पक्षीने अपने बचनेका कोई दूसरा उपाय न देख कर अपनी चोंचसे माँसका टुकड़ा फेंक दिया। दूसरे पक्षी उसे छोड़ कर माँसके टुकड़ेको लेनेके लिये परस्पर झगड़ने लगे। इस प्रकार कुरर पक्षी अपने प्रिय संग्रहको फेंक कर ही सुखी हो सका। उसी प्रकार मनुष्योंको संग्रह और आसक्तिसे दूर रह कर भगवान्‌का भजन करना चाहिये।

(१९) बालकसे शिक्षा

राजन! मुझे मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं और घर एवं परिवार आदिके लिये भी कोई चिन्ता नहीं है। इस प्रकार मैं सर्वदा निश्चन्त और सुखी रहता हूँ। इस विषयकी शिक्षा मैंने बालकसे ग्रहणकी है। संसारमें दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चिन्त और सुखी हैं—एक तो छोटासा बालक और दूसरा गुणातीत परमहंस पुरुष। गुरुदासको इनसे शिक्षा लेनी चाहिये।

(२०) कुमारीसे शिक्षा

(क) बहुतसे मनुष्योंका एकत्रवास जिस प्रकारसे झगड़ेका कारण होता है, उसी प्रकार दो मनुष्योंका एकत्रवास भी व्यर्थकी चर्चाओंका कारण होता है। इसलिये कुमारी कन्याकी चूड़ीकी भाँति अकेले ही विचरना चाहिए। एक समय किसी कुमारी कन्याके घर उसे वरण करनेके लिये कई लोग आये हुए थे। उस दिन दैववश कुमारीके घरके लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिये उसे स्वयं ही उनका आतिथ्यसत्कार करना पड़ा। उनको भोजन करानेके लिये वह घरके भीतर धान कूटने लगी। उसकी कलाइयोंमें शंखकी चूड़ियाँ थीं। इसलिये जोरोंसे शब्द होने लगा। इससे कुमारीको बड़ी लज्जा प्रतीत हुई कि बाहर बैठे हुए लोग क्या सोचेंगे? इसलिये एक-एक करके उसने सब चूड़ियाँ तोड़ दी और दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दी। अब फिर वह धान कुटने लगी। परन्तु फिर वे दो चूड़ियाँ भी बजने लगीं। तब उसने एक-एक चूड़ी और भी तोड़ दी। अब उसकी दोनों कलाइयोंमें केवल एक-एक चूड़ी रह गयी। तब फिर किसी प्रकारका शब्द नहीं हुआ। अतएव ज्ञानी व्यक्ति कुमारीकी चूड़ीकी भाँति सर्वदा एकान्त में वास करे।

(ख) परन्तु जिस प्रकार कोई सधवा राजकुमारी अपनी चूड़ियोंके झंकारसे अपने पतिदेवको वशीभूत कर लेती है, उसी प्रकार भक्तिदेवी अपने प्रियतम श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके लिये अपनी कलाइयोंमें अगणित वैष्णव रूपी चूड़ियाँ धारण करती हैं, जिनके सम्मिलित-कंठ स्वरसे मधुरसे भी सुमधुर नाम-संकीर्तन होता है। इस नाम-संकीर्तन द्वारा भगवान श्रीकृष्ण जैसे वशीभूत होते हैं, वैसे ज्ञान, योग, तपस्या आदि से नहीं। इसीलिये वैष्णवलोग मुनियों एवं योगियों भाँति एकान्त-सेवी न होकर अधिक से अधिक वैष्णवजनके साथ एकत्र होकर भगवानकी लीला-कथाओं और उनके मधुर नामोंका कीर्तन करते हैं। निर्जनका तात्पर्य जन-शून्य नहीं, वरन् सत्संग है और इसीका सेवन करना चाहिये।

(२१) बाण बाननेवालेसे शिक्षा

गुरुसेवकको बाण बनानेवालेके समान आलस्य

-रहित, एकाग्रचित्त और अपने मनकी सारी वृत्तियों को अपने साध्यकी प्राप्तिकी ओर लगा देनेवाला होना चाहिए। एक बाण बनानेवाला कारीगर एक समय बाण बना रहा था। अपने कार्यमें वह इस प्रकार तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबल के साथ राजकी सवारी निकल गयी और उसे पता तक नहीं चला।

(२२) सर्पसे शिक्षा

राजन! गुरु सेवकको साँपकी भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिए, अपने लिये घर नहीं बनाना चाहिए तथा एक स्थान पर नहीं रहना चाहिए। साथ ही प्रमाद नहीं करना चाहिए, गुहा आदिमें या दूसरे के बनाये हुए घरमें बास कर लेना चाहिए तथा एक स्थानमें नहीं वास करना चाहिए। उसे ऐसा रहना चाहिए कि बाहरी आचारोंसे पहचाना न जाय।

(२३) मकड़ीसे शिक्षा

मकड़ी जिस प्रकार अपने पेटसे जाला निकाल कर बाहरमें फैलाती है, उसमें विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है, उसी प्रकार महत्स्रष्टा कहलानेवाले सब ब्रह्माण्डोंके अन्तर्यामी आदि-पुरुषावतार अपनी मायाद्वारा सृष्टि किये गये इस संसारको कल्पके अन्तमें अपनी काल शक्तिद्वारा संहार करके फिरसे एक और अद्वितीय अर्थात् सजातीय और विजातीय भेदरहित अद्वितीय और अखिला-श्रय अर्थात् समस्त शक्तियोंके एकमात्र आश्रयके रूप में विराजमान होते हैं। वे प्रधानपुरुषेश्वर अर्थात् प्रकृति और जीवके नियन्ता हैं।

(२४) भृङ्गी (बिलनी) कीड़ेसे शिक्षा

जैसे भृङ्गी एक दूसरे कीड़ेको पकड़ कर दीवार पर अपने रहनेकी जगह बन्द कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसका स्वरूप प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार यदि कोई जीव स्नेहसे, द्वेषसे, अथवा भयसे भी जान बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन भगवानके चरणकमलोंमें लगा दे, तो वह भगवानके स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।　　(क्रमशः)

श्रीचैतन्यदेवकी शिक्षा-प्रणाली

(ग्रन्थका उपादान)

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा-प्रणालीको जाननेके लिये हमें श्रीचैतन्य-चरितामृत-ग्रन्थकी आलोचना करनी आवश्यक है। श्रीमहाप्रभुजीने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है। श्रीशिक्षाष्टकके आठ श्लोकोंके अति-रिक्त उनका रचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। श्रीरूप गोस्वामी द्वारा रचित 'पद्यावली'-ग्रन्थमें भी उनके दो एक श्लोक पाये जाते हैं। इन श्लोकोंके अतिरिक्त कुछ महोदयोंने एक-दो छोटे-छोटे ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं जिनको वे श्रीमन्महाप्रभु द्वारा रचित बतलाते हैं; परन्तु प्रचुर छान-बीन एवं गंभीर विचार-के पश्चात् हमने यह स्थिर किया है कि वे ग्रन्थ जाली हैं। श्रीमन्महाप्रभुजीके अनुगत गोस्वामियोंने अने-कानेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा प्रचुर मात्रामें पायी जाती है। परन्तु इन ग्रन्थोंमें ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता कि श्रीमन्महाप्रभु-जीने स्वयं कोई ग्रन्थ लिखा है। श्रीचैतन्यचरितामृत एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके लेखक हैं—

श्रीकृष्णदास कविराज महोदय। इस ग्रन्थमें श्री-चैतन्य महाप्रभुजीके चरित्र एवं उनके उपदेशोंका बड़ा ही रोचक एवं मर्म्मस्पर्शी वर्णन है। यही नहीं इस ग्रन्थमें महाप्रभुके जिन उपदेशों एवं सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, वे, अन्यान्य गोस्वामियोंके ग्रन्थोंको देखने पर प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं। यही कारण है कि श्रीचैतन्यचरितामृतका सर्वत्र ही इतना आदर है। श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्री-मन्महाप्रभुजीके कुछ ही वर्ष पीछे उदित होकर उक्त ग्रन्थकी रचना की थी। श्रीमन्महाप्रभुजीके साक्षात् शिष्य-वृन्द श्रीरघुनाथदास गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामी आदि अनेक गोस्वामियोंने श्रीकविराज गोस्वामीको इस ग्रन्थकी रचनामें सहायता दी थी। उसके पूर्व श्रीकवि कर्णपुरने "श्रीचैतन्यचन्द्रोदय नाटक" और श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने "श्रीचैतन्य भागवत" की रचना करके कविराज गोस्वामीकी अनेक विषयोंमें सहायता की है। सभी दृष्टियोंसे विचार करके हम श्रीचैतन्यचरितामृतका अवलम्बन करनेके लिये बाध्य हुए।

श्रीचैतन्य महाप्रभुजी चौबीस वर्षकी अवस्था तक गृहस्थधर्ममें थे। उस समय उन्होंने श्रीवास-अंगनमें, गङ्गाजीके तट पर, पाठशालामें एवं घर-घरमें घूम कर लोगोंको हरिनामका माहात्म्य बतलाया था एवं हरि-नामका संकीर्तन जीवोंके लिये क्यों आवश्यक है-इसका प्रचार किया था, तदनन्तर संन्यास ग्रहण कर श्रीजगन्नाथपुरीमें श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य आदिको, विद्यानगरमें श्रीराय रामानन्दको, दक्षिणमें वेंकट भट्ट और श्रीगोपाल भट्ट आदिको, प्रयागमें श्रीरूप गोस्वामीको तथा श्रीरघुपति उपाध्याय और श्री-वल्लभाचार्यको, वाराणसीमें श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीप्रकाशानन्द सरस्वती आदिको जो सब उपदेश प्रदान किये थे, उसीमें श्रीमहाप्रभुकी सम्पूर्ण शिक्षा यथायथ रूपमें पायी जाती है। इन्हीं शिक्षाओंके आधार पर हमने उनकी शिक्षा-प्रणालीका संग्रह किया है।

श्रीनाम-प्रचार

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने सम्पूर्ण भारतमें विशुद्ध वैष्णव-धर्म या जीवके धर्मका प्रचार किया था। कहीं कहीं स्वयं जाकर और कहीं-कहीं अपने प्रचारकोंको भेज कर उन्होंने यह कार्य पूरा किया था। उन्होंने प्रचारकोंमें असीम शक्तिका संचार करके उनको उत्तर और दक्षिण भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें प्रचार करनेके लिये भेजा। ये प्रचारक किसी प्रकारके वेतन या पुर-स्कारकी आशासे नहीं, बल्कि श्रीमन्महाप्रभुजीके प्रेममें दिवाने होकर कार्य करते थे। उनका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल एवं आचरणपूर्ण था। यदि प्रचारकों-का चरित्र विशुद्ध और आचरणपूर्ण न हो, तो विशुद्धधर्मका प्रचार संभव नहीं है। इसीलिये ऐसा देखा जाता है कि आजकल वेतन लेनेवाले लोग प्रचार करते हैं, परन्तु उनके प्रचारका फल—जैसा होना चाहिए—नहीं होता। श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदि, सप्तम परिच्छेद) में ऐसा लिखा है—

"एई पञ्चतत्त्वरूपे श्रीकृष्णचैतन्य।
कृष्णनाम-प्रेम दिया विश्व कैल धन्य॥
मथुराते पठाइल रूप सनातन।
दुई सेनापति कैल भक्ति प्रचारण॥
नित्यानन्द गोसाईंके पाठाल गौड़देशे।
तिहों भक्ति प्रचारिल अशेष-विशेषे॥
आपने दक्षिण देश करिल गमन।
ग्रामे-ग्रामे कैल कृष्णनाम प्रचारण॥
सेतुबन्ध पर्यन्त कैल भक्तिर प्रचार।
कृष्ण प्रेम दिया कैल सबार निस्तार॥

अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी-ने—भक्तरूप (स्वयं), भक्त-स्वरूप (श्रीनित्यानन्द प्रभु), भक्तावतार (श्रीअद्वैताचार्य प्रभु), भक्त (श्रीवास आदि भक्तगण) और भक्त-शक्ति (श्रीगदाधर-प्रभु)—इस पंचतत्त्वके रूपमें कृष्ण-नाम और कृष्ण-प्रेमका दान कर विश्वको धन्य कर दिया। उन्होंने कृष्ण-नाम और कृष्ण-प्रेमका प्रचार करनेके

लिये अपने दो प्रधान-सेनापतियों—श्रीरूपगोस्वामी एवं श्रीसनातन गोस्वामीको मथुरामें और श्रीनित्यानन्द प्रभुको गौड़देशमें (बंगालमें) भेजा। इन लोगोंने अपने-अपने क्षेत्रोंमें शुद्ध भक्तिका प्रचार किया। महाप्रभुजीने स्वयं दक्षिण भारतका भ्रमण किया और वहाँके गाँव-गाँवमें कृष्णनामका प्रचार किया। इस प्रकार उन्होंने भारतके पश्चिमोत्तर और पूर्वी प्रदेशोंसे आरम्भ कर दक्षिणमें सेतुबाँध तक कृष्णनामका प्रचार किया और कृष्ण प्रेम दान कर सबका उद्धार किया।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाका मूलाधार यह है कि कृष्ण-प्रेम ही जीवका नित्य-धर्म-धन है। इस धर्म-धनसे जीव कभी भी सदाके लिये अलग नहीं हो सकता। परन्तु कृष्ण-विस्मृतिके कारण जीव माया-द्वारा मोहित होकर कृष्णेतर विषयोंमें अनुरक्त है। इसीलिये उसका नित्य-धर्म-धन—कृष्ण-प्रेम उसके (जीवात्मके) अन्तःकोषमें छिप गया है। इसीसे जीव संसारमें नाना-प्रकारके दुःखोंसे जर्जरित होते हैं। यदि जीवको किसी सौभाग्य-घटना-क्रमसे यह स्मरण हो जाय कि 'मैं कृष्णका नित्य दास हूँ', तो उसका उक्त-धर्म फिरसे उदित हो सकता है।

इस सत्यके प्रति विश्वास ही सम्पूर्ण-मंगलकी जड़ है। यह विश्वास दो प्रकारसे उदित होता है अर्थात् किसी-किसी मनुष्यका संसार क्षयोन्मुख होने पर अनेक जन्मोंकी सुकृतिके फलस्वरूप स्वभाव-सिद्ध विश्वासका उदय होता है। श्रीचैतन्य-चरितामृत मध्य २३ वें अध्यायके ६ वें पयारमें लिखा है—

'कौन भाग्ये कौन जीवेर श्रद्धा यदि हय।
तबे सेई जीव साधु-सङ्ग करय॥'

अर्थात् किसी सौभाग्यसे यदि किसी जीवके हृदयमें श्रद्धा उदित होती है, तभी वह साधु-सङ्ग करता है।

श्रद्धाका दूसरा नाम विश्वास है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें लिखा है—

'श्रद्धा शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व-कर्म कृत हय॥'

अर्थात् 'कृष्णकी भक्ति करनेसे सब कुछ करना हो जाता है'—ऐसे दृढ़ निश्चयात्मक विश्वासको 'श्रद्धा' कहते हैं।* सुकृतिजन्य आत्म प्रसन्नताके माध्यमसे आत्माके नित्य-धर्मसे स्वतःसिद्ध श्रद्धाका उदय होता है। ऐसी श्रद्धा जिसके हृदयमें उदित होती है,† वह उपयुक्त साधुसंगमें भजन प्रणालीका अवलम्बन कर अपने अनर्थोंको दूर करता है तथा अपनी पूर्व उदित स्वतःसिद्ध श्रद्धाको निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भाव तककी अवस्थामें पहुँचा देता है।

यदि सौभाग्यवश जीव-हृदयमें स्वतःसिद्ध श्रद्धा प्रबल रूपमें उदित होती है, तो वह स्वयं राग-मार्गमें विचरण करने लगता है।§ ऐसी दशामें वह शास्त्र-युक्ति और शास्त्र-विधि आदिकी अपेक्षा न करके कृष्णरति रूप भाव-मार्ग पर निर्भय होकर आत्मोन्नति करनेमें समर्थ होता है। परन्तु वह उदित-श्रद्धा यदि कोमल-अवस्थामें हो, तब उसे सद्गुरुके निकट आश्रय ग्रहण करके उनके आदेश और निर्देशके अधीन रह कर उस कोमल श्रद्धाको दृढ़-श्रद्धा करके क्रमशः भाव राज्यमें पहुँचना पड़ता है। शास्त्र और गुरुके वचनोंके प्रति विश्वास होना ही जब श्रद्धाका लक्षण है, तब साधारणतः शास्त्र-विचार नितान्त आवश्यक होता है।

---

* यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥ (भा० ४।३१।१४)

† यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगस्य सिद्धिदः॥ (भा० ११।२०।८)

§ तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥ (भा० ११।२०।९)

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—

'प्रभु कहे सुन श्रीपाद इहार कारण ।
गुरु मोरे मूर्ख देखि करिल शासन ॥
मूर्ख तुमि तोमार नाहिं वेदान्ताधिकार ।
कृष्ण नाम जप सदा एई मंत्र सार ॥
कृष्ण मंत्र हैते हवे संसार मोचन ।
कृष्ण नाम हैते पावे कृष्णेर चरण ॥
नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म ।
सर्वमंत्र सार नाम एई शास्त्रमर्म ॥
एत बलि, एक श्लोक सिखाइल मोरे ।
कण्ठे करि एई श्लोक करह विचारे ॥
हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
एई आज्ञा पाञा नाम लई अनुक्षण ।
नाम लैते लैते मोर भ्रान्त हैल मन ॥
धैर्य धरिते नारि हईलाम उन्मत्त ।
हाँसि काँदि नाचि गाई जैसे मदमत्त ॥
तबे धैर्य धरि मने करिल विचार ।
कृष्णनामे ज्ञानाच्छन्न हइल आमार ॥
पागल हईलाम आमि धैर्य नाहि मने ।
एते चिन्ति निवेदिलाम गुरुर चरणे ॥
किवा मंत्र दिला गोसाँई किवा तार बल ।
जपिते जपिते मंत्र करिल पागल ॥
हाँसाय नाचाय मोरे कराय क्रंदन ।
एत सुनि गुरु मोरे बलिला वचन ॥
कृष्णनाम महामंत्रेर एईत स्वभाव ।
जेई जपे तार कृष्णे उपजय भाव ॥
कृष्ण विषयक परम प्रेमा परमपुरुषार्थ ।
यार आगे तृणतुल्य चारि पुरुषार्थ ॥

—बात उस समयकीहै जब महाप्रभुजी वाराणसी पधारे थे। उस समय वाराणसीमें अद्वैतवादके प्रकाण्ड आचार्य श्रीप्रकाशानन्द सरस्वतीका बड़ा बोल-बाला था। संयोगवश एक विराट सभामें महाप्रभुजीकी भेंटप्रकाशानन्दजीके साथ हुई। प्रकाशानन्दजीने महाप्रभुसे पूछा—'आप संन्यासी हैं; आपको तो वेदान्तका अध्ययन करना चाहिए तथा नृत्य-गीतसे सर्वथा दूर रह कर ब्रह्मका चिन्तन करना चाहिए; परन्तु आप इसके ठीक विपरीत वेदान्तका अध्ययन नहीं करते हैं और सदा भावुकता पूर्ण नृत्य-गीतमें प्रमत्त रहते हैं। ऐसा क्यों?' महाप्रभुजीने बड़ी ही नम्रताके साथ उत्तर दिया—श्रीमानजी! आपके प्रश्नके उत्तरमें मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जब मैं अपने गुरुजीके समीप उपस्थित हुआ, तो उन्होंने मुझे मूर्ख देख कर यह उपदेश किया कि 'तुम मूर्ख हो; तुम्हारा वेदान्त जैसे कठिन शास्त्रोंमें अधिकार नहीं है। इसलिये तुम सब प्रकारके मंत्रोंके सार-स्वरूप कृष्ण नाम महामंत्रका जप एवं कीर्तन करो। कृष्ण मंत्रसे आवागमन रूप संसार (या जड़ीय आसक्ति रूप संसार) दूर हो जाता है; परन्तु कृष्णनामसे तो श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी प्राप्ति भी होती है। अतएव कलियुगमें कृष्णनाम ही जीवोंके लिये एकमात्र धर्म है। कलियुगमें दूसरे-दूसरे धर्म फलप्रद नहीं हैं। हाँ हरिनाम-कीर्तनके साथ उन धर्मोंका आचरण होनेसे वे कुछ-कुछ फलप्रद हो सकते हैं अन्यथा स्वतन्त्ररूपसे उनका अनुष्ठान होने पर निष्फल ही देखे जाते हैं। शास्त्रोंका गूढ़ तात्पर्य यह है कि 'कृष्णनाम ही सब मंत्रोंके सार-स्वरूप हैं।'—ऐसा कह कर मेरे गुरुदेवने मुझे एक श्लोक सिखलाकर निरन्तर हरिनाम करनेकी आज्ञा दी। वह श्लोक यह है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

अब मैं गुरुदेवकी आज्ञा पाकर निरन्तर हरिनाम जपने लगा। धीरे-धीरे मेरी ऐसी दशा हो गयी कि नाम करते-करते मैं शरीरकी सुध-बुध भूल जाता, मन पागलकी भाँति हो उठता; चेष्टा करने पर भी अपनेको संभाल नहीं पाता। यहाँ तक कि पागलोंकी भाँति मैं कभी ठहाका मार कर हँसने लगता, कभी जोरोंसे रोने लगता और कभी उन्मत्त होकर नाचने लगता। ऐसा देख कर किसी प्रकार धैर्य धारण करके मैंने विचार

किया कि मैं तो बुरी तरहसे फँसा। कहाँ तो कृष्ण नामसे ज्ञानका उदय होना चाहिए, इससे तो मेरा रहा-सहा ज्ञान भी ढक गया। बुद्धि कुछ काम नहीं करती; धैर्य भी जाता रहता है और पागलोंकी भाँति हँसने, रोने और नाचने लगता हूँ। आखिर बात क्या है ? इस विषयमें मंत्रदाता गुरुजीसे पूछना चाहिए। ऐसा सोचकर मैंने गुरुजीके चरणोंमें निवेदन किया—गुरुजी ! आपने मुझे कैसा मंत्र दिया है ? इसका तो न जाने कैसा प्रभाव है कि ज्योंही मैं कृष्णनाम करता हूँ, तो यह मुझे बलपूर्वक कभी नचाता है, कभी हँसाता है और कभी रुलाता है।'

मेरी बात सुन कर गुरुजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—वत्स ! यह तो बड़े आनन्दकी बात है। कृष्ण-नाम महामंत्रका तो यही स्वाभाविक फल है कि जो इसका जप करता है, उसका कृष्णके श्रीचरणकमलोंमें प्रेम हो जाता है। यह कृष्ण-प्रेम ही जीवमात्रके लिये परम-पुरुषार्थ है। साधारणतः पुरुषार्थ चार हैं—अर्थ, धर्म, काम, और मोक्ष। इन सबसे अत्यन्त श्रेष्ठ है—पंचम पुरुषार्थ—कृष्ण-प्रेम। कृष्ण-प्रेमके सामने पूर्वोक्त चार पुरुषार्थ अतिशय तुच्छ और हेय हैं।'

श्रीमन्महाप्रभुजीके उपर्युक्त वचनोंमेंसे 'कंठे करि एई श्लोक करह विचार।'— इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्र-विचारसे श्रद्धा पुष्ट होकर उन्नतिको प्राप्त होती है। श्रीमन्महाप्रभुके मतानुसार शास्त्र अर्थात् वेदशास्त्र ही—एकमात्र प्रमाण हैं। केवल तर्क आदि शास्त्र कोई प्रमाण नहीं हैं। इस विषयमें श्रीचैतन्य-चरितामृत आदि सप्तम १३२ संख्यामें लिखा है—

'स्वत: प्रमाण वेद प्रमाणशिरोमणि ॥'

पुनः (मध्य २०।१२२) सनातन गोस्वामीके शिक्षाके प्रसङ्गमें लिखा है—

'मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृतिज्ञान।
जीवेर कृपाय कैल वेद पुराण ॥'

इससे स्पष्ट होता है कि श्रद्धा दो प्रकारकी होती है—कोमल श्रद्धा और दृढ़ श्रद्धा। दृढ़ श्रद्धासे जिस भक्तिका उदय होता है; वह अत्यन्त बलवती और स्वभावतः भावरूपा होती है। उसके सम्बन्धमें श्री-चैतन्यमहाप्रभुजीका उपदेश पूर्णरूपसे श्रीशिक्षाष्टकमें पाया जाता है। कोमल श्रद्धाके सम्बन्धमें प्रभुने श्रीसनातन गोस्वामीको इस प्रकार उपदेश दिया था—

"कौन भाग्ये कौन जीवेर श्रद्धा' यदि हय।
तबे सेई जीव साधु-सङ्ग करय ॥
साधुसङ्ग हैते हय 'श्रवण-कीर्तन'।
स धनभक्त्ये हय सर्वानर्थनिवर्तन ॥
अनर्थ निवृत्ति हइले भक्ति निष्ठा हय।
निष्ठा हैते श्रवणाद्ये रुचि उपजय ॥
रुचि हैते हय तबे आसक्ति प्रचुर।
आसक्ति हैते चित्ते जन्मे प्रीतिर अंकुर ॥
सेइ रति गाढ़ हैले धरे प्रेम नाम।
सेई प्रेमा प्रयोजन सर्वानन्दधाम ॥"

(चै. च. मध्य २३।६-१३)

यदि किसी सौभाग्यसे किसी जीवको श्रद्धा होती है, तब वह साधु-सङ्ग करता है। साधु-सङ्गमें वह श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्ति रूपी साधन भक्तिका आचरण करने लगता है। साधन भक्तिके प्रभावसे धीरे-धीरे उसके समस्त प्रकारके अनर्थ दूर हो जाते हैं। अनर्थोंके दूर होने पर उसकी श्रद्धा निष्ठाके रूपमें बदल जाती है। पुनः श्रवण-आदि साधनोंके प्रभावसे उसकी निष्ठा रुचिका आकार धारण करती है। फिर रुचिसे आसक्ति होती है और आसक्तिसे ही अन्तः-करणमें कृष्णके प्रति प्रीतिका अंकुर उदित होता है। पुनः वह प्रीति (रति) गाढ़अवस्थामें 'प्रेम'का आकार धारण करती है। यही प्रेम सम्पूर्ण जीवोंके लिये चरम प्रयोजन है तथा सम्पूर्ण आनन्दका धाम है।

दृढ़श्रद्धामें शास्त्र युक्तिकी अपेक्षा नहीं होती। परन्तु कोमल श्रद्धावाले साधकोंके लिये शास्त्र और साधुसङ्गके बिना गति नहीं है। ऐसे कोमल श्रद्धावाले साधकोंके लिये दीक्षा ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक

होता है। श्रीगुरुदेवके निकट शास्त्र-सिद्धान्त श्रवण करना तथा मंत्र-ग्रहण करना पड़ता है। तत्पश्चात् श्रीगुरुदेवके उपदेशानुसार अर्चन आदि नवधा भक्ति आदिका साधन करना होता है। ऐसा होने पर ही उसकी क्रमोन्नति होती है। ऐसे साधकोंके लिये ही दसमूलकी शिक्षा है। दसमूल में दसमूल हैं अर्थात् प्रमाण पहला मूल है तथा प्रमेय अर्थात् जो विषय प्रमाणित होंगे—वे नौ प्रकारके हैं।

दृढ़-श्रद्धावाले भक्तोंके अन्तःकरणमें स्वतःसिद्ध विश्वासजन्य केवल हरिनामका ही साधन करनेसे सब प्रकारके प्रमेय नामकी कृपासे अपने-आप उदित होते हैं। दृढ़ श्रद्धावाले साधकोंको प्रमाण-आलोचना की कोई आवश्यकता नहीं होती।

कोमल श्रद्धावाले साधकोंके लिये प्रमाणका अवलम्बन अत्यन्त आवश्यक होता है। उसके अभाव में वे शीघ्र ही कुसंगके शिकार हो पड़ते हैं और अन्तमें उनका पतन हो जाता है। ब्रह्म-विस्तार स्वरूप वेद ही उनके लिये प्रमाण हैं। वेद विशाल हैं; उनमें कर्मी, ज्ञानी आदि विभिन्न अधिकारियोंके लिये अनेक प्रकारकी व्यवस्थाएँ हैं। इसलिये उनमेंसे शुद्ध भक्ति-सम्बन्धी उपदेशोंका संग्रह कर लेना सहज नहीं है। वेदोंका मूल तात्पर्य क्या है, इसे स्पष्ट रूपसे दिखलानेके लिये सात्त्विक पुराणोंका आविर्भाव है। इन सात्त्विक पुराणोंमें श्रीमद्भागवत सर्व श्रेष्ठ है।† इस सात्त्विक महापुराणमें वेदके सात्त्विक तात्पर्यकी विशद व्याख्या है। इसलिये श्रीमद्भागवत-शास्त्र एवं उसके अनुगत पंचरात्र आदि तन्त्र भी प्रमाणके अन्तर्गत हैं।

श्रीमन्महाप्रभुजीने सनातन शिक्षामें कहा है कि वेद-शास्त्रमें मुख्य रूपसे 'सम्बन्ध,' 'अभिधेय' और प्रयोजनका वर्णन है। श्रीकृष्ण—सम्बन्ध हैं, भक्ति—अभिधेय अर्थात् कृष्ण प्राप्तिका साधन है, एवं कृष्ण-प्रेम ही एकमात्र प्रयोजन है। यह प्रेम ही पुरुषार्थ-शिरोमणि—महाधन है—

'वेदशास्त्र कहे 'सम्बन्ध', 'अभिधेय', 'प्रयोजन'।
कृष्ण प्राप्य-सम्बन्ध भक्ति प्राप्येर साधन॥
अभिधेय-नाम 'भक्ति', 'प्रेम' प्रयोजन।
पुरुषार्थ शिरोमणि - प्रेम महाधन॥

(चै० च० म० २०।१२४-१२५)

सम्बन्ध—चित् (जीव), अचित् (जड़) और ईश्वर—इन तीन वस्तुओंमें परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे सम्बन्ध कहते हैं। वास्तवमें कृष्ण ही एक वस्तु हैं। उस वस्तुके शक्तियाँ हैं—अचित् और जीव। अचित् शक्तिका परिणाम अचित् जगत है तथा जीव शक्तिका परिणाम जैव-जगत है। सम्बन्धके विचारसे जीवके कृष्णदास्यको पुनः प्राप्तिका नाम सम्बन्ध-स्थापन है। सौर्वभौम शिक्षामें लिखा है—

'स्वरूप ऐश्वर्य तौँर नाहि माया गंध।
सकल वेदेर हय भगवान् से सम्बन्ध॥'

पुनः सनातन शिक्षा (मध्य २०।१२५) में लिखा है—

'कृष्ण' प्राप्ति सम्बन्ध, 'भक्ति' प्राप्येर साधन।'

सम्बन्ध-तत्त्वके अन्तर्गत सात प्रमेयोंका विचार दिखलाया गया है। वे प्रमेय हैं—(१) कृष्णका विचार, (२) कृष्ण शक्तिका विचार, (३) रसतत्त्वका विचार, (४) जीव तत्त्वका विचार, (५) जीवका संसार विचार, (६) जीवका उद्धार विचार और (७) अचिन्त्यभेदाभेद विचार। इन सात प्रमेयोंका पृथक्-पृथक् विचार करके सम्बन्ध-ज्ञान प्राप्त होता है।

---

† अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां भारतार्थ विनिर्णयः।
गायत्रीभाष्यरूपोऽसौ वेदार्थपरिबृंहितः॥ (गरुड़ पुराण)

अभिधेय--जिस शक्तिद्वारा सहज शब्दार्थका बोध होता है, उसे शब्दकी अभिधा शक्ति कहते हैं। जैसे--दस घोड़े। इससे सहजरूपमें दस घोड़ोंका बोध होता है। इस सहज अर्थको अभिधेय कहा जा सकता है। एक दूसरे प्रकारकी भी शब्दकी शक्ति होती है। जिसे लक्षणा-शक्ति कहते हैं। उदाहरण स्वरूप—'गङ्गाके ऊपर बाराणसी नगर है।' जलके ऊपर नगर नहीं होता; इसलिये लक्षणा-शक्ति द्वारा इस वाक्य का यह अर्थ होगा कि गङ्गाके किनारे बाराणसी नगर है। जहाँ लक्षणाकी आवश्यकता होती है, वहाँ अभिधाशक्तिसे काम नहीं चलता। अभिधा द्वारा शब्दों के स्वाभाविक एवं सहज अर्थका ही बोध होता है।

वेद-शास्त्रमें अभिधा द्वारा जो अर्थ पाया जाता है, वही ग्रहण करने योग्य है। वेद-शास्त्रका यथार्थ अर्थ है--वेद-शास्त्रका अभिधेय, उसे जानना ही हमारा कर्त्तव्य है। सम्पूर्ण वेदका विचार करने पर ऐसा पता चलता है कि भगवद्भक्ति ही वेद-शास्त्रका अभिधेय है। कर्म, योग, तप और ज्ञान आदिका भक्तिके साथ अवान्तर सम्बन्ध है। उनमें परस्पर मुख्य सम्बन्ध नहीं है। इसीलिये शास्त्रमें भगवान्को प्राप्त करनेके लिये जिस मुख्य उपायका वर्णन किया गया है—वह मुख्य उपाय साधन-भक्ति है। यह एक प्रमेय है।

प्रयोजन—जिसके उद्देश्यसे उपायका अवलम्बन किया जाता है, उसे प्रयोजन कहा जाता है। जीवोंके लिये कृष्ण-प्रेम ही प्रयोजन है। यह प्रेम-सिद्धिरूप प्रयोजन भी एक प्रमेय है। इस प्रकार कुल मिलाकर नौ प्रमेय हुए। इसी प्रणालीके अनुसार श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने जैवधर्म (जीव-धर्म) की शिक्षा दी है।

(क्रमशः)

जयपुरमें १०८ श्रीश्रीआचार्यदेव

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके संस्थापक एवं आचार्य परिव्राजकाचार्यवर्य १०८ श्रीश्रीश्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजी वहाँके श्रद्धालु भक्तोंके अनुरोध पर वहाँ पधारे तथा २१ जनवरीसे २४ जनवरी तक स्थालिय लक्ष्मी मोटर कम्पनीके अतिथि-भवन, श्रीराधाकृष्णजीके मन्दिर आदि विभिन्न स्थानोंमें शुद्ध भक्तिके सम्बन्धमें भाषण और प्रवचन किये। सर्वत्र ही नगरके विद्वानों एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने श्रीआचार्यदेवका बड़ा ही स्वागत किया।

श्रीराधाकृष्णजीके मन्दिरमें श्रीआचार्यदेवने श्रीभगवन्नाम और नामीमें अभेद तथा श्रीनाम-संकीर्तनकी सर्वश्रेष्ठता —इस विषयमें बड़ा ही पाण्डित्यपूर्ण एवं सारगर्भित भाषण किया। भाषणके अन्तमें उपस्थित लोगोंके कई एक प्रश्नोंके उत्तर भी उन्होंने प्रदान किया। इस प्रचार कार्यमें श्रीओ३म्प्रकाश ब्रह्मचारी, साहित्यरत्न की सेवा-चेष्टा अत्यधिक प्रशंसनीय रही है।

—निजस्व-संवाद-दाता

साहित्य-समालोचना

सुविख्यात् 'कल्याण' पत्रके सह-सम्पादक सम्मान्य श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी महोदयने उक्त पत्रके सम्पादक सम्मान्य श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार द्वारा रचित श्रीराधामाधव-सम्बन्धी कुछ साहित्य भेजे हैं तथा उन्होंने पारमार्थिक एवं साहित्यिक दृष्टिसे उसकी समालोचना सुविख्यात पारमार्थिक पत्र—'श्रीभागवत पत्रिका' में प्रकाशित करनेके लिये अनुरोध किया है। हम नीचे उनका पत्र प्रकशित कर रहे हैं—

कल्याण-सम्पादकका पत्र

सम्मान्य महोदय !

सादर हरि-स्मरण। अलग रजिस्टर्ड बुक-पोस्ट से आपकी सेवामें श्रीभाईजी (श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार) सम्पादक, कल्याणकी लेखनीसे निःसृत श्रीराधा-माधव-सम्बन्धी कुछ साहित्य प्रेषित किया गया है। आपसे प्रार्थना है कि कृपापूर्वक इसका अवलोकन करें और पारमार्थिक एवं साहित्यिक दृष्टिसे इसकी समालोचना अपने सुविख्यात पत्रमें प्रकाशित कर अनुगृहीत करें।

शेष भगवत्कृपा !

विनीत
चिम्मनलाल गोस्वामी
सह-सम्पादक

समालोचना

सह-सम्पादक महोदय द्वारा प्रेषित साहित्य प्राप्त हुआ। एतदर्थ धन्यवाद ! उन्होंने साहित्यिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टिकोणोंसे समालोचना करनेका अनुरोध किया है। अतएव दोनों ही दृष्टियोंसे समालोचना प्रकाशित की जा रही है।

(१) 'श्रीराधा-माधव-चिन्तन'—यह ग्रन्थ डिमाई ८ पेजी, पृष्ठ संख्या ६५०, उत्तम कागज पर सुन्दर रूपसे मुद्रित हुआ है। सुन्दर बँधाईके साथ मूल्य-केवलमात्र ३.५० न.पै.।

(२) श्रीराधा-माधव-रस-सुधा—डिमाई ८ पेजी उत्तम कागजपर उत्तमरूपसे मुद्रित। मूल्य .१८ न.पै.

(३) श्रीराधा-महिमा—डिमाई ८ पेजी, उत्तम कागज पर उत्तम रूपसे मुद्रित।

(४) 'स्वयं भगवान्' श्रीकृष्णका प्राकट्य

(५) श्रीराधा-स्वरूप-गुण-महिमा (क)

(६) श्रीराधा-स्वरूप-गुण-महिमा (ख)

श्रीभाईजीकी कुशल लेखनीसे निःसृत श्रीराधा-माधव-सम्बन्धी उक्त साहित्यका अवलोकन कर अतिशय आनन्द हुआ। हिन्दी-साहित्यमें ऐसे ग्रन्थोंका अतीव अभाव है। साहित्यके सम्बन्धमें साधारण साहित्यिकों एवं पारमार्थिकोंकी धारणा—एक नहीं है। साहित्या-मोदी व्यक्ति प्राकृतिक सौन्दर्यके प्रति मुग्ध होकर बहुमुखी प्राकृत-भाव-धारा एवं प्राकृतिक सौन्दर्या-नुभूतिको ललित्यपूर्ण भाषामें लिपिबद्ध करनेका प्रयास करता है। इसके अन्तरालमें पार्थिव वासनाएँ भी साहित्यामोदियोंके लिये ग्रहणीय हुआ करती हैं। हम ऐसे लौकिक साहित्यकी अपेक्षा पारमार्थिक साहित्यका अधिक आदर करते हैं। ग्रन्थकारके प्रस्तुत साहित्यमें लौकिक साहित्यप्रेमीजन प्रचुरमात्रा में साहित्यिकताका आदर्श पायेंगे, इसमें संदेह नहीं, परन्तु पारमार्थिक साहित्यिकोंका साहित्यके सम्बन्धमें भिन्न दृष्टिकोण होता है। वे 'सहित'—शब्दके आगे ष्यञ्'-प्रत्यय लगाकर 'साहित्य'-शब्द निष्पन्न हुआ मानते हैं, अर्थात् 'स-हित'-कहनेसे 'हितेन सह वर्त-मानम् इति सहितम्।'—ऐसा समझते हैं। अतएव

देखा जाता है कि जिस रचनासे जगत्का हित या कल्याण सिद्ध होता है, वही पारमार्थिक साहित्य है। प्राकृत स्त्री-पुरुषके मिलन-वर्णनमें जीवका यथार्थ हित निहित नहीं है। अप्राकृत अतिन्द्रिय प्राकृतगुण-रहित परतत्त्व वस्तुका मिथुनलक्षण बद्धजीवके कृष्ण-प्रेम प्राप्तिका उपाय-स्वरूप है। अतएव प्राकृत साहित्यिक और अप्राकृत साहित्यिक—इन दोनोंमें प्रचुर पार्थक्य लक्षित होता है। हम विश्वासके साथ कह सकते हैं कि एक लौकिक साहित्यप्रेमी होनेपर भी लेखकके ग्रन्थोंमें अप्राकृत साहित्यका भाव प्रस्फुटित हुआ है।

यद्यपि प्रस्तुत साहित्यके अधिकांश विचार ही गौड़ीय-वैष्णव-विचार धाराका अवलम्बन करके लिपिबद्ध हुए हैं, तथापि परममुक्त महात्माओंके कृष्ण-प्रीतिमूला भक्ति-भावोंका सम्पूर्ण आदर्श लेखककी लेखनी द्वारा प्रकाशित होनेपर हम अधिक आनन्दित होते। गौड़ीय गोस्वामियोंने स्वकीय संभोग-रसकी अपेक्षा अप्राकृत पारकीय विप्रलंभ कृष्णप्रेमको श्रेष्ठ बतलाया है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजी एवं उनके अनुगत गोस्वामियोंने श्रीमती राधारानीमें पारकीय विप्रलंभ एवं दास्यभावका ही नित्यत्व और सर्वोत्तमत्व प्रतिपादित किया है। प्रस्तुत साहित्यमें इस विषयकी अधिक उत्कर्षता प्रदर्शित नहीं होनेपर भी हम इसमें इस विषयका आभास अवश्य पाते हैं।

परम मुक्त पुरुष ही संभोगवादका परित्याग करने में समर्थ हो सकते हैं; दूसरे नहीं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संभोग-रस भक्तिके अन्तर्गत ही नहीं है। भक्तके नाना भेदोंमें संभोगवाद और स्वकीयवाद भी सम्मिलित हैं। ऐश्वर्यपर भावको भी भक्ति कहा जाता है, परन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी और उनके अनुगत गोस्वामियोंने पारकीय विप्रलंभ भावको ही सर्वश्रेष्ठ माना है। लेखकने भी अपने इन ग्रन्थोंमें गौड़ीय वैष्णवोंकी विचार-धाराकी श्रेष्ठता प्रदर्शित करनेकी चेष्टा की है, परन्तु 'श्रीराधा-माधव-चिन्तन ग्रन्थके अन्तिम कुछ पृष्ठोंकी 'प्रार्थना' आदि परिच्छेदोंमें जैसे भाव व्यक्त हुए हैं, उसमें हम कुछ वैषम्य अनुभव करते हैं। बङ्गला साहित्यमें एक वैष्णव महाजनने इस प्रकार लिखा था—(आमार) हृत्कमले, बामे हेले, दाड़ाओ लये बासुरी।' अर्थात् 'प्यारे मन मोहन। तुम मेरे हृदय कमलपर बाँयेकी ओर कुछ झुककर (त्रिभंग रूप में) बासुरी लिये हुए खड़े होओ।' साधारणतः भक्तोंके हृदयमें ऐसी कामना स्वाभाविक है, तथापि यह कृष्ण-प्रीतिमुला प्रेमभक्ति की सर्वोच्च अवस्था नहीं है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी कहते हैं—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा—
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो।
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः॥

'वह लम्पट मुझ चरणदासीको प्रिय समझकर चाहे गले लगा ले, चाहे अपने पैरोंसे रौंद डाले और चाहे दर्शन न देकर बिरहकी आगसे मेरे प्राणोंको जलाता रहे—जो चाहे सो करे; परन्तु मेरा तो प्राण-वल्लभ वही है, दूसरा कोई नहीं।'—यह भक्ति राज्य में स्वयं भगवान श्रीगौर सुन्दरकी चरम एवं आदर्श शिक्षा है। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि लेखकने भी अपने ग्रन्थमें इस श्लोकका उल्लेख किया है। व्यक्तिगत चरित्रमें अथवा भावधाराकी उपासनामें ऐसी (उक्त श्लोकमें वर्णित) चित्तवृत्ति परम मुक्त पुरुषों अर्थात् नित्य-सिद्ध भगवत् पार्षदोंके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती।

गौड़ीय वैष्णवोंकी भक्ति-तत्त्वालोचनामें श्रीराधा-माधव के ऐकान्तिक-भजनकी बात ही स्पष्ट है। केवल गौड़ीय वैष्णवाचार्योंकी ही नहीं, अपितु चारों सम्प्रदायोंके सभी वैष्णवाचार्योंकी विचार-धाराओंमें ऐकान्तिकता लक्षित है। भजन-राज्यमें ऐकान्तिकताका अभाव होनेपर सिद्धिलाभकी कोई संभावना नहीं। ऐकान्तिकी भक्तिका प्रधान भूषण है—ब्रह्मा-शिवादि देवताओंको श्रीकृष्ण या श्रीविष्णुके समान नहीं

समझना अथवा कृष्ण या विष्णुके साथ समबुद्धिसे उन देवताओंकी उपासना न करना। अतएव जैसे एक घड़ा दूधमें केवल मात्र एक बूंद गोमूत्र या गोबर पड़ जानेसे सारा दूध विकृत हो जाता है, ठीक उसी प्रकार 'श्रीराधा-माधव-चिन्तन ग्रन्थमें 'काली-कृष्ण और शिव-राधा' नामक अध्यायने (पृष्ठ २५) संपूर्ण ग्रन्थको विकृत कर दिया है। लेखकने इस अध्याय को अप्रमाणिक आधुनिक एवं भक्ति-विरोधी 'महा-भागवत' के आधार पर लिपिबद्ध करके शुद्ध भक्तोंके हृदयमें वेदना पहुँचायी है। इसे श्री-ब्रह्म-रुद्र-सनक प्रभृति चार-सम्प्रदायका कोई भी वैष्णव भक्तिके अनुकूल स्वीकार नहीं करेगा। केवल यही नहीं, शास्त्रों में भी ऐसा उल्लेख है कि ब्रह्मा-शिवादि देव-देवियों को स्वयं-भगवान् कृष्णके समान समझने से—उनमें कृष्णके समान पृथक-पृथक भगवद् बुद्धि रखनेसे नामापराध होता है।

प्रस्तुत साहित्यमें एक और भी अति भक्ति-विरुद्ध विषय देखकर हमें तीव्र वेदना हुई। लेखकने प्रेमी और ज्ञानी—दोनोंके साध्यके स्वरूपको एक बतलाते हुए लिखा है कि प्रेमकी चरम अवस्थामें प्रेमी और प्रेमास्पद भगवान, अथवा कृष्ण और कार्ष्णी या विष्णु और वैष्णवके भेदका अभाव हो जाता है; प्रेमके प्रभावसे उस दशामें सेवक-सेव्य भाव नष्ट हो जाते हैं, वे दोनों घुलमिल कर एकाकार हो जाते हैं। वास्तवमें यह विचार सर्वथा मायावाद या अद्वैतवाद है। अचिन्त्यभेदाभेद-सिद्धान्तमें अथवा विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत आदि चिन्ताधाराओंके किसी भी आचार्यने उक्त मतका कहीं भी अनुमोदन नहीं किया है। ऐसी विचार-धारासे वैष्णव जगत्में अत्यन्त दुश्चिन्ता और अपसिद्धान्तका प्रवेश कराया गया है। यद्यपि अवैष्णव पाठकसमाजमें ऐसी विचार-धाराका आदर होगा, इसमें संदेह नहीं; परन्तु शुद्ध वैष्णवगण इससे वेदना ही अनुभव करेंगे।

जैसा भी हो, हम हिन्दी-साहित्यमें ऐसे ग्रन्थोंके प्रचुर प्रचार-प्रसारकी कामना करते हैं। वर्तमान निरीश्वर विश्वमें भक्ति-ग्रन्थोंका जितना ही अधिक प्रचार होगा, जीवोंका उतना ही अधिक कल्याण होगा। प्रस्तुत साहित्य साधारण लोगोंके हृदयमें धर्म भावका उद्रेक करायेगा एवं अशुद्ध अंश को छोड़कर पाठ करनेसे सबके लिये उपकारी और आनन्ददायक होगा।

निरपेक्ष समालोचना सदा-सर्वदा आदरणीय होती है। निरपेक्ष हुए बिना धर्मकी रक्षा नहीं होती। श्रीचैतन्य चरितामृतमें भी कहा गया है—'निरपेक्ष नहिले धर्म न जाय रक्षण।' अतएव हमने निरपेक्ष समालोचना करनेकी चेष्टा की है। इसके लिये हम लेखकसे क्षमा प्रार्थना करते हैं।

विनीत—

—सम्पादक